

स्त्री मुक्ति का सवाल समस्याएँ व चुनौतियाँ



लेख
संकलन

परिचय

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर हम अपने पाठकों के लिए ये विशेष संकलन पेश कर रहे हैं। इस संकलन में स्त्री मुक्ति से जुड़े विभिन्न मुद्दों पर 28 लेख हैं। अंतिम लेख प्रेम, परम्परा और विद्रोह पहले से ही एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित है। महिलाओं के विरुद्ध बढ़ रहे अपराधों से लेकर सिनेमा में महिलाओं के वस्तुकरण पर, स्त्री मजदूरों की हालात से लेकर बेटी बचाने की मुहिम पर, सभी मुख्य मुद्दों पर इस संकलन में लेख हैं। हमें आशा है कि सभी पाठकों को ये संकलन पसन्द आयेगा व इस पर अपने विचार वो हमसे साझा करेंगे। आप अपना कोई भी कमेंट हमारे फेसबुक पेज पर दर्ज करवा सकते हैं।

धन्यवाद

इंकलाबी सलाम के साथ

प्रस्तुति - Uniting Working Class

फेसबुक पेज - <https://www.facebook.com/unitingworkingclass/>

व्हाट्सएप्प नम्बर - 9892808704



अनुक्रमणिका

1. मार्ग मुक्ति का गढ़ना होगा! जीना है तो लड़ना होगा!! - 6
2. 'बेटी बचाने' की मर्दवादी चिन्ताएँ - 10
3. 'किस ऑफ लव' मुहिम के बारे में कुछ विचार - 12
4. भारत में प्रेम करने के बारे में कुछ बातें - 15
5. बढ़ते स्त्री-विरोधी अपराधों का मूल और उनके समाधान का प्रश्न - 17
6. रोना स्त्रियोचित है? - 22
7. "आनर किलिंग"- सम्मान के नाम पर हत्या या सम्मान के साथ ना जीने देने का जुनून - 25
8. स्त्री को एक वस्तु बनाकर पेश कर रहा सिनेमा - 29
9. यह आर्तनाद नहीं, एक धधकती हुई पुकार है! - 33
10. स्त्री मज़दूरों और उनकी माँगों के प्रति पुरुष मज़दूरों का नज़रिया - 38
11. आम लोगों में मौजूद मर्दवादी सोच और मेहनतकश स्त्रियों की घरेलू गुलामी के खिलाफ संघर्ष के बारे में कम्युनिस्ट नज़रिया / लेनिन - 54
12. खूबसूरत चमड़ी का बदसूरत धन्धा - 58
13. बच्चों की सामूहिक देखभाल ने औरतों को किस तरह आजाद किया! - 61
14. कैसे पहुंची पेरिस कम्यून की चिंगारी चियापास की पहाड़ियों में - 71
15. कविता कृष्णपल्लवी की डायरी के चन्द पन्ने - 76
16. समाजवादी चीन ने स्त्रियों की गुलामी की बेड़ियों को कैसे तोड़ा - 80
17. रूस की स्त्रियां / सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला - 84

18. प्रवासी स्त्री मज़दूर: घरों की चारदीवारी में कैद आधुनिक गुलाम - 88
19. घरेलू कामगार स्त्रियाँ: हक से वंचित एक बड़ी आबादी - 94
20. स्त्री मज़दूरों का संघर्ष श्रम की मुक्ति के महान संघर्ष का हिस्सा है / एलियानोर मार्क्स - 97
21. पेशागत बीमारियों और इलाज में उपेक्षा की दोहरी मार झेलती हैं स्त्री मज़दूर - 103
22. पूँजी के ऑक्टोपसी पंजों में जकड़ी स्त्री मज़दूर
23. पूरी दुनिया में सबसे अधिक शोषण और उत्पीड़न की शिकार - 107
24. पीसरेट पर काम करने वाली स्त्री मज़दूरों की अँधेरी ज़िन्दगी - 114
25. स्त्री मज़दूर सबसे अधिक शोषित-उत्पीड़ित हैं
26. उन्हें साथ लिये बिना मज़दूर आन्दोलन बड़ी जीतें नहीं हासिल कर सकता! - 118
27. अक्टूबर क्रान्ति के दिनों की वीरांगनाएँ - 136
28. प्रेम, परम्परा और विद्रोह - 142

हर दिन प्रगतिशील, मानवतावादी साहित्य पाने के लिए

- देश-दुनिया की हर महत्वपूर्ण घटना पर मजदूर वर्गीय दृष्टिकोण से लेख
- सुबह-सुबह प्रगतिशील कविता, कहानियां, उपन्यास, गीत-संगीत, हर रविवार पुस्तकों की पीडीएफ
- देश के महान क्रांतिकारियों भगतसिंह, राहुल, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि का साहित्य पीडीएफ व यूनिकोड फॉर्मेट में



मजदूर बिगुल व्हाट्सएप्प चैनल से जुड़ने
के लिए अपना नाम और जिला लिखकर
इस नम्बर पर भेज दें - **9892808704**

वैकल्पिक नम्बर : 9619039793

फेसबुक पेज : fb.com/unitingworkingclass

टेलीग्राम चैनल : www.t.me/mazdoorbigul



अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस (8 मार्च) के अवसर पर

मार्ग मुक्ति का गढ़ना होगा! जीना है तो लड़ना होगा!!

स्त्री मुक्ति लीग (<https://www.facebook.com/streemuktileague>) द्वारा जारी पर्चा

बहनो, साथियो!

अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस (8 मार्च) आज हम एक ऐसे समय में मना रहे हैं जब स्त्रियों की स्वतन्त्रता, सम्मान और सुरक्षा पर चौतरफ़ा हमले और भी तेज़ हो गये हैं। स्त्रियों ने लम्बे संघर्षों के बाद जो अधिकार हासिल किये थे उन्हें भी छीन लेने की कोशिशें की जा रही हैं।

आज बाज़ार की शक्तियाँ 8 मार्च की जुझारू विरासत को कलंकित कर इसे अपना माल बेचने के लिए महज़ एक उत्सव के रूप में पेश कर रही हैं। मगर 8 मार्च दुनियाभर की आधी आबादी के मुक्ति स्वप्नों के लिए संघर्ष का दिन है! 8 मार्च मुक्ति के सपनों को नई उड़ान देने का दिन है! 8 मार्च का दिन किसी बीते संघर्ष को सिर्फ़ याद करने का दिन नहीं है, बल्कि यह दुनियाभर की आधी आबादी के आज भी जारी संघर्ष में अपने संकल्पों को नये सिरे से मज़बूत कर लेने का दिन है।

1910 में आयोजित समाजवादी स्त्री सम्मेलन में स्त्री-मुक्ति-संघर्ष और मेहनतकश अवाम की नेता क्लारा ज़ेटकिन ने शान्ति, जनतन्त्र और समाजवाद के लिए संघर्ष में दुनियाभर की उत्पीड़ित औरतों की क्रान्तिकारी एकजुटता के प्रतीक के तौर पर 8 मार्च को अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस के रूप में मनाने का आह्वान किया था, क्योंकि इसी दिन 1857 में अमेरिका के कपड़ा उद्योग में काम करने वाली मेहनतकश औरतों ने काम के घण्टे 16 से 10 करने के लिए एक जुझारू प्रदर्शन किया था। आधुनिक दुनिया में पूँजी की नरभक्षी सत्ता के विरुद्ध शोषित-उत्पीड़ित औरतों का यह पहला संगठित आन्दोलन

था, जिसकी स्मृतियाँ एक मशाल की तरह आज भी हमारे रास्ते और दिलों को रोशन कर रही हैं। तबसे लेकर अब तक के 108 वर्षों में स्त्रियों ने अपने अधिकारों के लिए कई संगठित लड़ाइयाँ लड़ीं और कई अधिकार हासिल भी किये। भारत जैसे दुनिया के तमाम देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में स्त्रियों ने बढ़चढ़कर भागीदारी की थी। रूस और चीन जैसे देशों में उन्होंने मेहनतकशों के साथ मिलकर समाजवाद के लिए भी लड़ाई लड़ी। लेकिन आज का कड़वा सच यह है कि उन्हें घर और बाहर, दोनों जगहों पर ज़्यादा से ज़्यादा गुलाम बनाने की कोशिशें तेज़ हो गयी हैं।

समाज की तरक्की के साथ पुरानी व्यवस्थाएँ बदलीं, स्त्रियाँ घरों से बाहर आयीं, लेकिन साथ ही उनके शोषण और दमन के नये-नये रूप भी ईजाद हो गये। आज पूँजीवाद ने स्त्रियों के जिस्म ही नहीं, उनके पूरे वजूद को ही उपभोक्ता सामग्री में बदल दिया है - विज्ञापनों, फ़िल्मों-सीरियलों आदि से लेकर पोर्नोग्राफी के विश्वव्यापी बाज़ार तक। उनकी श्रमशक्ति भी बाज़ार में सबसे सस्ती बिकती है। एक समान काम के लिए उन्हें पुरुषों से काफ़ी कम वेतन मिलता है।

यह कैसी विडम्बना है कि एक ओर तो हम समुद्र की अतल गहराइयों का रहस्यभेदन, और अन्तरिक्ष में उड़ानें भर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर दुनिया की आधी आबादी के पंख नोचे-खसोटे जा रहे हैं, उनकी उड़ान कैद की जा रही है। भ्रूण हत्या और बचपन में ही मार दिये जाने से जो बच गयीं उन्हें क्रदम-क्रदम पर छेड़खानी, बलात्कार, बर्बर और घिनौने यौन-शोषण का सामना करना पड़ता है। दफ़्तरों में, कारखानों में, भवन निर्माण जैसे उद्योगों में अपना खून-पसीना बहाकर थैलीशाहों की तिजोरियाँ भरने वाली मेहनतकश औरतों की खुशियों को कौन छीन रहा है, कौन उनके सस्ते श्रम और इज़्ज़त को कौड़ियों के मोल नीलाम कर रहा है? औरतों की खुशियों, आत्माओं और भावनाओं की नीलामी बोलने वाले आखिर कौन लोग हैं?

माल-उत्पादन पर टिकी यह व्यवस्था स्त्रियों को भी 'माल' या 'आइटम' में तब्दील कर देती है। राह चलते इसकी घिनौनी अभिव्यक्तियाँ साफ़ सुनाई देती हैं। टीवी और सिनेमा में स्त्री शरीर का अश्लील प्रदर्शन, 'आइटम' साँग, स्त्रियों के बारे में फूहड़ चुटकुले आदि आम बात है। किशोरों और युवाओं की एक बड़ी आबादी हिंसक किस्म के अश्लील गानों को सुन-सुनकर बड़ी हो रही

है। 'बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ' का नारा उछालने वाली सरकार के समय में बेटियों के तन और मन पर बर्बर हमले सबसे अधिक हो रहे हैं। वैसे सभी चुनावी पार्टियों में स्त्री उत्पीड़न के अपराधी भरे पड़े हैं। "नारी-सशक्तीकरण" की सरकारी कवायद वास्तव में स्त्रियों के वोट बैंक को लुभाने की है जबकि इन्हीं पार्टियों को वोट के लिए खाप पंचायत जैसी घनघोर मध्ययुगीन स्त्री विरोधी संस्थाओं और बलात्कारी बाबाओं से गँठजोड़ करने में ज़रा भी शर्म नहीं आती है। हमारे समाज के रेशे-रेशे में स्त्री-विरोधी मूल्य-मान्यताएँ, पोंगापन्थ और दकियानूसी सोच मौजूद है। संघ परिवार और तमाम हिन्दू-मुस्लिम कट्टरपंथी संगठनों के लोग रोज़ स्त्री विरोधी विचारों की घिनौनी उल्टी करते रहते हैं, लेकिन समाज में इसका मुखर विरोध नहीं होता।

लगभग तीन दशकों से जारी आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप 'खाओ-पिओ-ऐश करो' की संस्कृति में लिप्त एक बर्बर किस्म का नव धनाढ्य वर्ग पैदा हुआ है, जिसे लगता है कि वह पैसे के बल पर सबकुछ ख़रीद सकता है। पूँजीवादी लोभ-लालच और भोगवाद की संस्कृति ने स्त्रियों को एक 'कमोडिटी' बना दिया है और पैसे के नशे में चूर इस वर्ग के भीतर उस 'माल' के उपभोग की उन्मादी हवस भर दी है। इन्हीं लुटेरी नीतियों ने एक आवारा, लम्पट पतित वर्ग भी पैदा किया है जो पूँजीवादी अमानवीकरण की सभी हदों को पार कर गया है। इन सब चीजों को खाद-पानी देने का काम हमारे समाज के पोर-पोर में समायी पितृसत्तात्मक सोच करती है जो स्त्रियों को भोग की वस्तु और बच्चा पैदा करने की मशीन मानती है और हर पल स्त्री-विरोधी मानसिकता को बढ़ावा देती रहती है।

स्त्रियों की पीड़ा-व्यथा की कहानी अनन्त है। लेकिन इसको नियति मान लेना हमारी सबसे बड़ी भूल होगी। ऐसा हम हरगिज़ नहीं होने दे सकते। इतिहास बताता है कि स्त्रियाँ हमेशा से पुरुषों के मातहत नहीं रही हैं। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के साथ इतिहास में स्त्रियों की गुलामी की शुरुआत हुई। लेकिन स्त्रियाँ बराबरी और मुक्ति के लिए लगातार लड़ती रही हैं। पूरी दुनिया के स्तर पर संघर्षों के एक लम्बे सिलसिले के बाद ही वे कुछ हासिल कर सकी हैं। इतिहास यह भी बताता है कि सामाजिक बदलाव या आज़ादी की कोई भी लड़ाई तभी जीती जा सकती है जब उस लड़ाई में आधी आबादी की भागीदारी हो।

बहनो ! साथियो ! अपनी सुरक्षा घरों की चारदीवारियों में कैद होकर नहीं की जा सकती । बर्बरता वहाँ भी हम पर हमला कर सकती है, रुढ़ियाँ हमें तिल-तिलकर मारती हैं वहाँ । अँधेरा हमारी आत्मा के कोटरों में बसेरा बना लेता है । हमें बाहर निकलना होगा सड़कों पर और मर्दवादी रुग्णताओं-बर्बरताओं का मुकाबला करना होगा ।

बहनो ! साथियो ! सोचो-समझो और अपनी दिमागी गुलामी की बेड़ियाँ तोड़ दो ! चकनाचूर कर दो जाति और धर्म से जुड़ी रुढ़ियों को ! अपनी ज़िन्दगी के फ़ैसले खुद लेना सीखो । मत डरो ग़लतियों, पराजयों और जोखिमों से । निराशा और निरुपायता की अँधेरी गुफा से, अपने चारों ओर खड़ी निष्क्रियता और ठहराव की लोहे की दीवारों की क़ैद से बाहर निकलो, सूरज की रोशनी और ज़िन्दगी के कोलाहल के बीच, सदियों से अपने दिलों में दबे ज्वालामुखी को विस्फोट करने दो पूरी ताकत के साथ, प्रचण्ड वेग से बहता जिसका लावा जलाकर राख कर देगा सड़ी-गली रुढ़ियों-रिवाजों-मान्यताओं को और पूँजीवादी लूट की इस व्यवस्था के साथ-साथ हमारी हज़ारों वर्षों पुरानी नारकीय गुलामी की जंग खायी ज़ंजीरों को भी ।

हमारी लड़ाई पुरुषों से नहीं, औरतों को पैरों की जूती समझने वाली, उन पर हुकूमत गाँठने वाली, उन्हें कमतर समझने वाली पुरुष स्वामित्ववादी मानसिकता से है । जो अपने घरों की औरतों को दबाता-कुचलता है, उसे लुटेरी-बर्बर पूँजीवादी व्यवस्था दबाती-कुचलती है । आधी आबादी को गुलाम बनाकर आम आदमी मुक्ति और न्याय की अपनी ही लड़ाई को कमज़ोर बनाता है ।

बहनो आओ ! साथियो आओ !! प्रज्वलित कर लो अपनी मशालें एक बार फिर । संकल्पों को फौलाद बनाओ, एक लम्बी और कठिन यात्रा पर रवानगी के लिए । यात्रा हज़ारों मील लम्बी है । पर हर लम्बी यात्रा की शुरुआत एक छोटे-से क़दम से ही होती है । उठो और एकता कायम करो !

‘बेटी बचाने’ की मर्दवादी चिन्ताएँ

January 23, 2015

कविता कृष्णपल्लवी

ज़िन्दगी भर व्यक्तित्व का कुचला जाना, चूल्हे -चौकठ की गुलामी, पढ़ी-लिखी होने और आर्थिक स्वावलम्बन के बावजूद मर्द के पैरों तले दबकर व्यक्तित्वहीन दासी बनकर जीना, जाति और धर्म के बाहर प्रेम करने या जीवन साथी चुनने की हिमाकत करने पर जलाकर मार दिया जाना, फाँसी या ज़हर दे दिया जाना, सिर्फ प्रेम करने की आज्ञादी पर ही नहीं, पहनने-ओढ़ने, सड़क पर निकलने, पार्कों में घूमने तक पर धर्म, समाज और नैतिकता के ठेकेदारों द्वारा तामील की गयी सजायें झेलना, प्रेम प्रस्ताव ठुकराने पर एसिड से चेहरा जला दिया जाना, घर के बाहर (और भीतर भी) हमेशा बर्बर यौन हिंसा की आशंका में मर-मर कर जीना... -- स्त्री के सामने यदि एक विकल्प यह हो और दूसरा विकल्प हो जन्म लेने से पहले गर्भ में ही मार दिया जाना, तो कहना मुश्किल है कि कौन बेहतर विकल्प होगा। जीवन भर घुट-घुटकर जीने, यानी तिल-तिल मरते रहने से तो शायद गर्भ में ही मार दिया जाना बेहतर है।

‘बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ’ वास्तव में एक मर्दवादी चिन्ता से पैदा हुआ अभियान है। यदि बेटियाँ इसतरह कम होती रहीं तो बेटों के लिए बहू कहाँ से आयेगी, कुलदीपक कौन पैदा करेगा, वंश कैसे चलेगा? जो धार्मिक कट्टरपंथी औरतों पर सबसे अधिक बंदिशें लगाते हैं और सबसे अधिक जुल्म ढाते हैं, उन्हीं की राजनीतिक पार्टी ‘बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ’ अभियान चला रही है, ठीक वैसे ही जैसे वह ‘गौ रक्षा आन्दोलन’ चलाती है। औरतें इन धर्मध्वजाधारियों के लिए उपयोगी पशु से अधिक और कुछ भी नहीं हैं। इस “उपयोगी पशु” की जनसंख्या में कमी से वे चिन्तित हैं। हरियाणा में औरतों की कमी की वजह से जाट किसानों को बंगाल और छत्तीसगढ़ से गरीब घरों की लड़कियाँ खरीदकर लानी पड़ रही हैं, ताकि वंश चले। दूसरी ओर खाप पंचायतें जाति बाहर या समान गोत्र में शादी करने पर अपनी लड़कियों का

गला रेत देने या सरेआम फाँसी दे देने का फरमान सुनाती हैं।

औरतों के सामने प्रश्न सिर्फ बेटियों को बचाने का नहीं, उनकी मौत से भी बदतर गुलामी की ज़िन्दगी से बचाने का है। औरतों की सामाजिक आज़ादी के आन्दोलन के बिना बेटी बचाने के आन्दोलन को कोई मतलब नहीं है। जबतक औरतें सामाजिक रूप से स्वतंत्रता और बराबरी नहीं हासिल कर लेंगी, तब तक लाख प्रचार के बावजूद भ्रूण हत्याएँ होती रहेंगी। और यदि वे रुक भी जायें या कम भी हो जायें, तो बेबस गुलामी और बर्बर उत्पीड़न भरी ज़िन्दगी मौत से भला किन अर्थों में बेहतर कही जा सकती है!

गर्भ में ही हत्या या नारकीय गुलामी -- इन दो विकल्पों के अतिरिक्त एक तीसरा उन्मोचक विकल्प भी है, और वह है, संगठित होकर सिर से पाँव तक सड़ चुके वर्तमान सामाजिक ढाँचे के खिलाफ बगावत कर देना। मुक्ति के लिए लड़ना अपने आप में एक हद तक मुक्ति हासिल कर लेने जैसा है। मुक्ति के लिए समर्पित युयुत्सु जीवन मुक्त जीवन जैसा ही सुखद अहसास देता है।

स्त्रियों को एकजुट होकर तमाम मध्ययुगीन और आधुनिक बर्बरताओं के विरुद्ध एक प्रचण्ड वेगवाही सामाजिक-सांस्कृतिक तूफान चलाना होगा। उन्हें औरत की गुलामी और पुरुष वर्चस्व के सबसे मजबूत खम्भों -- धार्मिक कट्टरता और जाति-व्यवस्था के विरुद्ध डटकर खड़ा होना होगा, प्रेम और विवाह के मामले में, चुनाव की निजी आज़ादी का डटकर इस्तेमाल करना होगा। पर यह लड़ाई तभी आगे बढ़ सकती है जब यह पुरुष-वर्चस्ववाद तथा धर्म और जाति की राजनीति की बुनियाद -- यानी उस पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध केन्द्रित हो, जिसने अपने हित साधन के लिए तमाम मध्ययुगीन सामंती बर्बरताओं को अपना लिया है। पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष तभी कारगर हो सकता है, जब वह तमाम शोषित-उत्पीड़ित मेहनतकशों के क्रांतिकारी संघर्ष के साथ जुड़ जाये। स्त्री-मुक्ति का प्रश्न सामाजिक मुक्ति के व्यापक प्रश्न से जुड़ा हुआ है।

‘किस ऑफ लव’ मुहिम के बारे में कुछ विचार

November 12, 2014

कविता कृष्णपल्लवी

‘किस ऑफ लव’ आन्दोलन के बारे में कुछ साथियों ने मेरी राय पूछी है। इस आन्दोलन से मेरा कोई विरोध तो नहीं है, पर इसके बारे में मेरा रुख आलोचनात्मक है।

हिन्दुत्ववादी ताकतें अपने सामाजिक-सांस्कृतिक एजेण्डा को लागू करने के लिए प्रायः संस्कृति और परम्परा की दुहाई देती हैं और प्रतीकवाद के लोकरंजक हथकण्डे का इस्तेमाल करती हैं। प्रतीकवाद का जवाब महज प्रतीकवाद से देने से मुद्दा हल्का हो जाता है। सांस्कृतिक आतंकवाद की पुरोगामी राजनीति एक व्यापक और दीर्घकालिक प्रतिरोध संगठित किये जाने की माँग करती है, प्रगतिशील संस्कृति और सामाजिक आचार का जनजीवन में व्यापक एवं सुदृढ़ आधार तैयार करने के लिए तृणमूल स्तर पर व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन संगठित करने की श्रमसाध्य गतिविधियों की सुदीर्घ निरंतरता की माँग करती है। ‘दक्षिणपंथियों के मुँह पर जवाबी तमाचा लगाने का संतोष’ समस्या के समाधान में कोई विशेष मदद नहीं पहुँचायेगा।

निजी आजादी-विरोधी और स्त्री-विरोधी जिन आचार-व्यवहारों को तमाम धार्मिक कट्टरपंथी ताकतें जनता पर थोपना चाहती हैं, उनका समाज में व्याप्त रूढ़ियों-रीतियों-संस्कारों और संस्थाओं (जाति पंचायत, खाप पंचायत, पुराना पारिवारिक ढाँचा आदि) के रूप में व्यापक समर्थन आधार है। साथ ही, धार्मिक कट्टरपंथी ताकतें तृणमूल स्तर पर लगातार अपनी संस्थाओं, प्रचारपरक गतिविधियों और सामाजिक-सांस्कृतिक आयोजनों के जरिए रूढ़िवाद को पोषक खुराकें देकर मजबूत बनाती रहती हैं। दूसरी ओर महानगरों का आधुनिक प्रगतिशील विचारों वाला जो मध्यवर्गीय तबका (विशेषकर युवा) है, वह अपने ही खित्तों में सिमटा हुआ, अपने ही लोगों के बीच ‘किस ऑफ लव’ जैसी प्रतीकात्मक जवाबी मुहिम चलाकर अपनी

पीठ ठोंकता रहता है। रूढ़िवाद जहाँ उसकी आजादी पर चोट करता है, वहाँ वह उसका मुखर प्रतीकात्मक प्रतिवाद करता है, लेकिन रूढ़ियों की सर्वाधिक निर्मम मार तो अपने रोज-रोज के जीवन में व्यापक आम मेहनतकश जनता झेल रही है और विडम्बना यह है कि प्रतिगामी शक्तियों के सांस्कृतिक वर्चस्व की राजनीति स्वयं उनके दिलो-दिमाग को रूढ़ियों की स्वीकृति के लिए काफी हद तक अनुकूलित किये हुए है। रूढ़ियों के विरोध के लिए प्रतिबद्ध आधुनिक प्रगतिशील विचारों सरोकारों वाले युवा बुद्धिजीवियों को सबसे पहले आम जनता के बीच जाकर जाति-धर्म के रूढ़ि-बंधनों के विरुद्ध, स्त्री-विरोधी रूढ़ियों-संस्थाओं के विरुद्ध सतत् अभियान चलाना होगा, संस्थाएँ खड़ी करनी होंगी, सांस्कृतिक-सामाजिक काम करने होंगे और इस उद्देश्य पूर्ति के लिए युवा संगठन, स्त्री संगठन, जाति उन्मूलन मंच, रूढ़ि-विरोधी मंच आदि बनाने होंगे।

अपने सुरक्षित, कुलीन, मध्यवर्गीय, महानगरीय द्वीपों पर लड़ी जाने वाली प्रतीकात्मक लड़ाइयों से आत्मसंतोष के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। हालत तो यह है कि सहारनपुर, बिजनौर, आजमगढ़, बस्ती जैसे छोटे शहरों और गाँवों को भी छोड़ दें, तो दिल्ली में भी जनेवि कैम्पस, दिविवि कैम्पस और केन्द्रीय दिल्ली के बाहर यदि आम निम्न मध्यवर्गीय मुहल्लों और मज़दूर बस्तियों में 'किस ऑफ लव' की मुहिम चलाई जाये तो जनता ही दौड़ा लेगी या ढेले फेंकने लगेगी। इसलिए सबसे पहले जनता के बीच सांस्कृतिक-सामाजिक कार्रवाइयों की ज़रूरत है, सघन रूप से और निरंतरता के साथ। बेशक प्रतीकात्मक लड़ाइयाँ भी लड़ी जाती हैं, ज़रूर लड़ी जानी चाहिए, लेकिन उनकी सार्थकता एवं प्रभाविता तभी बनती है जब उनके पीछे एक सशक्त सामाजिक आन्दोलन का पूर्वाधार हो। पेरियार ने शहर की सड़कों पर हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियों को झाड़ू मारते हुए जुलूस निकाला था। यह एक उग्र प्रतीकात्मक प्रतिवाद था, पर इसके पीछे सुदीर्घ प्रयासों से खड़ा किये गये एक सशक्त सामाजिक आन्दोलन की ताकत थी। ज्योतिबा फुले, पेरियार, आन्ध्र महासभा के भीतर सक्रिय कम्युनिस्टों और रैडिकल तत्वों तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर के बहुतेरे सुधारकों ने ज़मीनी स्तर पर सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने के काम में काफी धैर्यपूर्वक समय और ऊर्जा लगायी थी। आज का जो कुलीन मध्यवर्गीय वामपंथ है, वह ऐसा किये बिना कुछ प्रतीकात्मक लड़ाइयाँ लड़कर, कुछ अनुष्ठानिक कार्रवाइयाँ करके अपने कर्तव्यों की

इतिश्री कर लेना चाहता है और अपनी 'उग्र क्रांतिकारिता' पर अपनी पीठ ठोक लेना चाहता है। यह दोन किहोते जैसी हरकत है।

दूसरी बात यह है कि सामाजिक रूढ़ियों और पोंगापंथ को थोपने की कोशिशें धार्मिक कट्टरपंथी फासिस्टों का स्वतंत्र एजेण्डा नहीं है। यह उनके सम्पूर्ण आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-शैक्षिक एजेण्डा का एक हिस्सा है। हमें उनके समूचे एजेण्डा को 'एक्सपोज' करना होगा, समूचे प्रोजेक्ट का विरोध करना होगा। इसके लिए हमें व्यापक मेहनतकश जनता के बीच हर स्तर पर काम करना होगा। अपनी हर सूरत में फासीवाद एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है जो पूँजीवाद के संकट का समाधान देने के नाम पर तरह-तरह के लोकरंजक नारे देकर जनता को लुभाता और ठगता है। 'सुनहरे अतीत की वापसी' और 'परम्परा के नाम पर रूढ़ियों का महिमामण्डन' भी इसी लोकरंजक तिकड़म का एक हिस्सा है जो जनता के एक अच्छे-खासे हिस्से को मिथ्याभासी चेतना के गुंजलक में सफलतापूर्वक फँसा लेता है। इस प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का प्रतिकार केवल एक सशक्त प्रगतिशील, क्रांतिकारी सामाजिक आन्दोलन खड़ा करने की कोशिशों द्वारा ही किया जा सकता है।

भारत में प्रेम करने के बारे में कुछ बातें

October 14, 2014

कविता कृष्णपल्लवी

प्रेम करने की आजादी निजता की हिफाजत के हक़ और व्यक्तिगत आजादी का सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा है। इस रूप में इस आजादी के लिए डटकर लड़ना और रूढ़िवादी शक्तियों एवं “संस्कृति” के ठेकेदारों से मोर्चा लेना हर जिम्मेदार, प्रबुद्ध नागरिक का एक बुनियादी दायित्व है।

प्रेम के सामाजिक-ऐतिहासिक और नैतिक पक्ष से अनभिज्ञ प्रेमियों का प्रेम मध्यवर्गीय रूमानियत से सराबोर होता है और सहज सान्निध्य-प्रसूत यौनाकर्षण उसका मुख्य पहलू होता है। इसलिए वे प्रेम का पवित्र कार्य करते हुए भी ज़माने से डरते हैं। उनका अलगावग्रस्त दिलो-दिमाग इस एकांतिक क्रिया व्यापार के अधिकार के लिए लड़ने हेतु सामूहिक एकजुटता की ज़रूरत को समझ ही नहीं पाता। जीवन के अन्य क्षेत्रों में रूढ़ियों के साथ समझौता करने वाले प्रेमीजन प्रेम के मामले में रूढ़ियों से डटकर मोर्चा लेने का साहस ही नहीं जुटा पाते।

पार्कों में बैठे जोड़ों पर जब दक्षिणपंथी गुण्डे हमला बोलते हैं और दौड़ाते हैं तो प्रेमियों को भागते, मुँह छिपाते, कान पकड़कर उटुक-बैठक करते देखकर बड़ी कोफ़्त होती है। ऐसे सभी जोड़े ढेले और डण्डे लेकर, या खाली हाथ ही, एक साथ मिलकर “भारतीय संस्कृति के ठेकेदार” गुण्डों के गिरोहों से भिड़ क्यों नहीं जाते? जो प्रेम करने की निजी आजादी के लिए जान देना तो दूर, हाथ-पैर तुड़ाने का भी जोखिम नहीं मोल ले सकते, उन्हें प्रेम करना ही नहीं चाहिए।

हम किसी जाति-धर्म के व्यक्ति से प्रेम करें, ‘सिंगल’ रहें, विवाह करें या ‘लिव इन’ में रहें, इसमें राज्य या सामाजिक-सामुदायिक संस्थाओं का दखल एकदम असहनीय है। युवाओं को तमाम रूढ़ियों और वर्जनाओं को तोड़कर, अपनी निजी आजादी के भरपूर अहसास के साथ अपनी निजी जिन्दगी का हर

फैसला खुद लेने का साहस जुटाना ही होगा। उन्हें एकजुट होकर रूढ़िवादियों, खाप चौधरियों और धार्मिक पोंगापंधियों से मोर्चा लेना ही होगा। आधुनिकता वेशभूषा और नयी-नयी उपभोक्ता सामग्रियों और तकनीकों के इस्तेमाल का नाम नहीं है। सच्चे अर्थों में आधुनिक वही है जो तर्कणा और वैज्ञानिक दृष्टि से लैस है और जिसकी दिमागी बनावट-बुनावट जनवादी है। जो वास्तव में आधुनिक भी नहीं, वह प्रगतिशील या वामपंथी भला कैसे हो सकता है?

बढ़ते स्त्री-विरोधी अपराधों का मूल और उनके समाधान का प्रश्न

विराट

पिछले कुछ वर्षों में बर्बरतम स्त्री-विरोधी अपराधों की बाढ़ सी आ गयी है। ये अपराध दिन ब दिन हिंस से हिंस होते जा रहे हैं। समाज में ऐसा घटाटोप छाया हुआ है जहाँ स्त्रियों का खुलकर सांस ले पाना मुश्किल हो गया है। बर्बर बलात्कार, स्त्रियों पर तेज़ाब फेंके जाने, बलात्कार के बाद ख़ौफनाक हत्याओं जैसी घटनाएँ आम हो गयी हैं। पिछले दिनों लखनऊ, बदायूँ, भगाणा, आदि जगहों पर हुई घटनायें इसका उदाहरण हैं। आखिर क्या कारण है कि ऐसी अमानवीय घटनाएँ दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं? इस सवाल को समझना बेहद जरूरी है क्योंकि समस्या को पूरी तरह समझे बगैर उसका हल निकाल पाना संभव नहीं है। अक्सर स्त्री-विरोधी अपराधों के कारणों की जड़ तक न जाने का रवैया हमें तमाम लोगों में देखने को मिलता है। इन अपराधों के मूल को ना पकड़ पाने के कारण वे ऐसी घटनाओं को रोकने के हल के तौर पर कोई भी कारगर उपाय दे पाने में असमर्थ रहते हैं। वे इसी पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर ही कुछ कड़े क़ानून बनाने, दोषियों को बर्बर तरीके से मृत्युदण्ड देने आदि जैसे उपायों को ही इस समस्या के समाधान के रूप में देखते हैं। इस पूरी समस्या को समझने के लिए हमें इसके आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि सभी कारणों की पड़ताल करनी होगी, तभी हम इस समस्या का सही हल निकालने में समर्थ हो पाएंगे।

अगर आँकड़ों पर ध्यान दिया जाये तो हम पाते हैं कि ऐसी बर्बर घटनाएँ खास तौर पर पिछले दो दशकों में अभूतपूर्व गति से बढ़ी हैं। इसका कारण यह है कि 1991 से आयी नयी आर्थिक नीतियों की वजह से भारत में एक ऐसा नवधनाढ्य परजीवी वर्ग पैदा हुआ है जो लगातार आर्थिक और राजनीतिक रूप से बेहद मज़बूत हुआ है। गाँवों में धनी कुलक और फार्मर, और शहरों में प्रॉपर्टी डीलरों, शेयर बाज़ार के दलालों, छोटे उद्योगपतियों, तरह-तरह के कमीशनखोर, सट्टेबाजों का एक पूरा परजीवी वर्ग तैयार हुआ है जो बैठे बैठे

ही बेतहाशा पैसे लूट रहा है। यह वर्ग इस तरह की बर्बर घटनाओं को खुलकर अंजाम दे रहा है क्योंकि कानून, सरकार आदि को यह जेब में रखता है और बेखौफ़ होकर स्त्री-विरोधी अपराध कर रहा है। एक दूसरा वर्ग भी है जो इसी नवधनाढ्य परजीवी वर्ग द्वारा फेंके गये टुकड़ों पर पलता है। यह वर्ग है लम्पट टटपूजिया और लम्पट सर्वहाराओं का वर्ग जो तमाम छोटे उद्योग-धंधों, दुकानों आदि में काम करता है, या ट्रांसपोर्टर और प्रॉपर्टी-डीलरों का चमचा होता है। यह वर्ग भी ऐसी पाशविक घटनाओं को अंजाम दे रहा है। यह वर्ग अपनी सर्वहारा चेतना से पूरी तरह कट चुका है। लोग अक्सर यह कहते और सोचते हैं कि ऐसी घटनाओं के ज़िम्मेदार गरीब मज़दूर होते हैं। यह पूरी तरह से गलत है। असल में ऐसी जिन घटनाओं का हवाला दिया जाता है उनमें गरीब मज़दूर नहीं बल्कि लम्पट सर्वहारा और लम्पट टटपूजिया तत्व ही ज़िम्मेदार होते हैं जो अपने वर्ग से पूरी तरह कट चुके हैं। इस तरह यह साफ़ है कि ऐसी पाशविक घटनाओं के लिए मुख्य और मूल रूप से यह नवधनाढ्य वर्ग और इसके तलवे चाटने वाला लम्पट टटपूजिया वर्ग ही ज़िम्मेदार हैं। ये इंसान होने की सारी शर्तें खो चुके हैं और पूर्णतः अमानवीय हो चुके हैं और मानव समाज में रहने के लायक नहीं हैं। इन घटनाओं के लिए सारी पुरुष आबादी को ज़िम्मेदार ठहराना अतार्किक है भले ही उनमें से अधिकांश के ऊपर पितृसत्तात्मक मूल्यों का प्रभाव क्यों न हो।

ऐसी घटनाओं के लिए कौन मुख्य रूप से ज़िम्मेदार है, यह जानने के साथ-साथ इस बात की भी जांच-पड़ताल करना ज़रूरी है कि आखिर इस तरह के स्त्री-विरोधी मनोविज्ञान को कहाँ से खाद-पानी मिल रहा है। भारत एक ऐसा देश है जहाँ पूँजीवादी विकास बेहद मंथर गति से और क्रमिक प्रक्रिया में हुआ है। यहाँ पूँजीवाद प्रबोधन और पुनर्जागरण की विरासत से कटा हुआ और बगैर किसी क्रान्ति के आया है। इस कारण से यहाँ के मानस में जनवादी मूल्यों का अभाव है। जिस तरह से अधिकतर यूरोपीय देशों में पूँजीवाद सामन्तवादी मूल्य-मान्यताओं से निर्णायक विच्छेद करके विकसित हुआ और उसने जनवाद की एक ज़मीन तैयार की, लेकिन भारत में उस तरह से यह विकसित नहीं हुआ। यहाँ पूँजीवाद तो आया लेकिन वह अपने साथ पूँजीवाद की कोई अच्छाई लेकर नहीं आया। पूँजीवाद की तमाम बुराइयाँ अवश्य ही भारत में आयी, इस तरह से यहाँ एक ऐसी पूँजीवादी व्यवस्था सामने आयी जिसने सामंती मूल्यों से निर्णायक विच्छेद नहीं किया। भारतीय समाज में पतनशील

पूँजीवादी संस्कृति के साथ-साथ सामंती मूल्यों का भी प्रभाव है। जहाँ एक ओर खाप पंचायतें और फ़तवे जारी करने वाली ताकतें मौजूद हैं, वहीं दूसरी ओर पूँजीवादी मीडिया द्वारा परोसी गयी बीमार मानसिकता भी मौजूद है। एक तरफ़ घोर स्त्री-विरोधी पाखण्डी बाबाओं की एक पूरी जमात है जो तमाम चिनौने स्त्री-विरोधी अपराधों को अंजाम देती हैं, दूसरी तरफ़ हनी सिंह जैसे घृणित “कलाकार” भी हैं जिन्होंने नौजवानों में स्त्री-विरोधी मानसिकता पैदा करने का ठेका ले रखा है।

पूँजीवाद की यह विशेषता होती है की वह हर चीज़ को माल बना देता है और मुनाफ़ा कमाने के लिए किसी भी हद तक जाता है। पूँजीवाद के कारण पैदा हुए ऐन्द्रिक-सुखभोगवाद, रुग्ण और हिंसक यौनाचार और स्त्रियों को एक माल के रूप में देखे जाने को पूँजीपतियों ने मुनाफ़ा कमाने के लिए ग्लोबल सेक्स बाज़ार की सम्भावना के रूप में देखा है। पोर्न फिल्मों, सेक्स खिलौनों, बाल-वेश्यावृत्ति, विकृत सेक्स, विज्ञापनों आदि का एक कई हज़ार खरब डॉलर का भूमंडलीय बाज़ार तैयार हुआ है। मुनाफ़ा कमाने के लिए पूँजीपति वर्ग आम मध्यवर्गीय किशोरों-नौजवानों और ग़रीब मेहनतकश जनता तक में विभिन्न संचार माध्यमों के ज़रिये रुग्ण-मानसिकता परोस रहा है। यह एक ओर तो पूँजीपतियों को ज़बरदस्त मुनाफ़ा देता है, वहीं दूसरी ओर क्रान्तिकारी सम्भावनाओं को नष्ट करने के लिए मज़दूर बस्तियों और आम नौजवानों को टारगेट करने के हथियार के रूप में भी पूँजीपतियों ने इसको देखा है। पितृसत्ता जो समाज में पहले से ही मौजूद थी, उसे पूँजीवाद ने नए सिरे से खाद-पानी दिया है और मज़बूत बनाया है। स्त्रियों को माल के रूप में प्रोजेक्ट करके पूँजीवाद ने बर्बरतम स्त्री-विरोधी अपराधों के लिए एक ज़मीन तैयार की है। विकसित पूँजीवादी देश भी स्त्री-विरोधी अपराधों से अछूते नहीं हैं। वहाँ सामंती मानसिकता के कारण होने वाले ऑनर-किलिंग आदि जैसे अपराध तो नहीं होते लेकिन पूँजीवादी संस्कृति ने जो भयंकर अलगाव, व्यक्तिवाद और बीमार मानसिकता पैदा की है, उसके कारण वे भी स्त्री-विरोधी अपराधों में पीछे नहीं हैं। स्वीडन जैसे विकसित पूँजीवादी देश ने वर्ष 2012 में यौन-हिंसा और बलात्कार का रिकॉर्ड कायम किया। अगर आबादी के हिसाब से देखा जाये तो स्वीडन में भारत से 30 गुना अधिक स्त्री-विरोधी अपराध होते हैं। ब्रिटेन, जर्मनी और अमेरिका भी यौन हिंसा के मामलों में पीछे नहीं हैं। अमेरिका में हर वर्ष 3 लाख से भी अधिक महिलाएं यौन हिंसा का शिकार होती

है। देखा जाये तो पूँजीवाद ने सार्वभौमिक स्तर पर स्त्री-विरोधी अपराधों को बढ़ाने में घृणित भूमिका अदा की है।

ऐसे में सोचने वाली बात यह है कि क्या पूँजीवाद की चौहद्दी के भीतर स्त्री-विरोधी अपराधों को ख़त्म करना और स्त्री-विरोधी मानसिकता से छुटकारा पाना संभव है? हमारा मानना है कि यह कत्तई भी संभव नहीं है। जो लोग यह समझते हैं कि ऐसी घटनाओं को कुछ सख्त क़ानून बनाकर या पुलिस को और अधिक चाक-चौबंद करके इन घटनाओं को रोका जा सकता है, वो पूरी समस्या को नहीं समझ पाते हैं। हर कोई पुलिस-थानों में हुई बर्बर बलात्कार की घटनाओं से परिचित है, हर कोई न्यायधीशों द्वारा दिए गये स्त्री-विरोधी फैसलों से परिचित है। जो ताकतें इन अपराधों के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार हैं वह पुलिस और न्याय-व्यवस्था को अपनी जेब में रखती हैं। यही कारण है की 74 प्रतिशत स्त्री-विरोधी अपराधों के मुकदमों में आरोपी खुलेआम बरी हो जाते हैं। (हालाँकि इसका यह मतलब बिलकुल नहीं है कि मौजूदा व्यवस्था के समूल नाश होने तक हमे सारे स्त्री-अधिकार आन्दोलन स्थगित कर देने चाहिये, निश्चित ही हमें कड़े कानूनों की मांग भी उठानी चाहिये) बुर्जुआ नारीवाद भी इस समस्या का हल दे पाने में नाकाम है। जो संगठन या व्यक्ति इसी व्यवस्था के भीतर नारी-मुक्ति का स्वप्न देखते हैं वो पूँजीवाद के उन कारकों को नहीं देख पाते जो लैंगिक असमानता और स्त्रियों की गुलामी को बल देते हैं। वो कभी भी मज़दूर महिलाओं के साथ कार्यस्थलों पर हुए यौन-उत्पीड़न पर आवाज़ नहीं उठाते। महिला मज़दूरों को पुरुषों के बराबर काम करने पर भी पुरुषों से कम मजदूरी मिलती है और उसे सबसे निचली कोटि की उजरती गुलाम के रूप में खटाया जाता है, इस असमानता पर भी वे कभी आवाज़ नहीं उठाते। इस तरह से वे केवल “इलीट” वर्ग की महिलाओं की मुक्ति को ही एजेंडे पर रखते हैं, हालाँकि उनकी मुक्ति भी इस व्यवस्था में संभव नहीं है।

तो सवाल उठता है कि ऐसे माहौल में जहाँ तमाम “जनप्रतिनिधि” स्त्री-विरोधी बयान देते नहीं थकते (कि स्त्रियाँ स्वयं इन अपराधों की ज़िम्मेदार हैं!) और अपनी घृणित ग़ैर-जनवादी नसीहतें देते नहीं अघाते (स्कर्ट नहीं पहननी चाहिये!, शाम को घर से बाहर नहीं निकलना चाहिये!, मोबाइल फ़ोन नहीं रखना चाहिये!) वहाँ आखिर इस समस्या का समाधान क्या हो और प्रतिरोध का रास्ता क्या हो। यह हम ऊपर देख चुके हैं कि मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था

के भीतर इस समस्या का कोई पूर्ण समाधान नहीं है लेकिन इसका यह मतलब कतई नहीं है कि जब तक पूँजीवाद का नाश नहीं होता तब तक स्त्रियों पर हो रही दरिन्दगी के खिलाफ़ आवाज़ ही न उठायी जाये। पितृसत्ता के खिलाफ़ हमें संघर्ष छेड़ना ही होगा। हमें यह भी समझना होगा कि पितृसत्ता अपने आप में कोई अपरिवर्तनीय चीज़ नहीं है। आज जब हम पितृसत्ता की बात करते हैं तो ये समझना होगा कि आज के समाज में यह पूँजीवादी पितृसत्ता है क्योंकि इसका स्वरूप सामंती पितृसत्ता से भिन्न है। सामंती समाज में स्त्री भोग की वस्तु थी लेकिन पूँजीवाद ने स्त्री को उपभोग की वस्तु बना दिया है। स्त्रियों को पूँजीवाद ने माल बना दिया है और इसीलिए जब हम पितृसत्ता से लड़ने की बात करेंगे तो हमें ध्यान रखना होगा कि इसका समूल नाश भी पूँजीवाद के खात्मे के साथ ही होगा। तब तक हमें पूँजीवादी स्पेस में भी स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष लगातार जारी रखना होगा। और यह भी निश्चित है कि पूँजीवाद का खात्मा भी स्त्रियों को साथ लिए बगैर नहीं हो सकता क्योंकि स्त्री क्रान्तिकारी ताकतों की आधी आबादी है और चूँकि यह सबसे अधिक उत्पीडित है इसलिए आज हमें अपना पूरा ज़ोर स्त्रियों को क्रान्तिकारी ताकतों के इर्द-गिर्द गोलबंद करने में लगाना होगा। आज नौजवानों, महिलाओं, मेहनतकशों, छात्रों को एकजुट होकर पूँजी की संगठित ताकत को चुनौती देनी होगी। केवल पूँजीवाद के खात्मे के बाद ही नारी-मुक्ति का स्वप्न पूरा हो सकता है।

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, मई-जून 2014

रोना स्त्रियोचित है?

कात्यायनी

‘अमां यार, तुम तो बात-बात में औरतों जैसे रोने लगते हो!’ ‘अजी, तुम तो रोने लगे औरतों की तरह।’ रोजमर्रा की जिंदगी में ये जुमले आमतौर पर सुनने को मिल जाते हैं। खासकर बच्चों की हमेशा ही ऐसी भर्त्सना की जाती है—‘मर्द बच्चे हो, बात-बात में टसुए क्यों बहाने लगते हो?’

यह एक आम धारणा है कि रونا स्त्रियों का गुण है, मर्द नहीं रोते। वह कवि-कलाकार हो तो दीगर बात है। कवि-कलाकारों में थोड़ा स्त्रैणता तो होती ही है।

यह पुरुष प्रधान सामाजिक ढांचे में व्याप्त संवेदनहीनता और निर्ममता की मानवद्रोही संस्कृति की ही एक अभिव्यक्ति है। शासक को रونا नहीं चाहिए। रोने से उसकी कमजोरी सामने आ जायेगी। इससे उसकी सत्ता कमजोर होगी। पुरुष रोयेगा तो औरत उससे डरना बंद कर देगी। वह रोयेगा तो औरत उसके हृदय की कोमलता, भावप्रवणता या कमजोरी को ताड़ लेगी। तब भला वह उससे डरेगी कैसे? उसकी सत्ता स्वीकार कैसे करेगी? वस्तुतः यह पूरी धारणा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के ‘शासक-शासित फ्रेम’ की बुनियाद पर खड़ी है।

लड़कों का औरतों की तरह रونا अपमानजनक है, पर लड़की कोई बहादुरी करे तो उसे ‘मर्द की तरह बहादुर’ कहा जाता है। खुब लड़ी मर्दानी... लड़की बहादुर है तो वह मर्दानी है। बहादुरी स्त्री के लिए गौरव है क्योंकि बहादुरी तो आमतौर पर पुरुष ही करते हैं। औरत का सहज गुण तो भीरुता है।

लेकिन रونا हमेशा ही कातरता या अवशता नहीं होता। रونا घनीभूत दुख, पीड़ा भावोद्रेक और प्यार की अभिव्यक्ति भी होता है। जो संघर्ष करता है वह भी रोता है। पर आज पुरुष और स्त्री में जिन चीजों को असामान्य या अस्वाभाविक कहकर चिन्हित किया जाता है, उनके कारण और मानदंड मुख्यतः वर्तमान नारी उत्पीड़क, पुरुष स्वामित्ववादी और असमानतापूर्ण सामाजिक ढांचे द्वारा निर्धारित होते हैं न कि प्राकृतिक स्थितियों द्वारा।

बच्चों को हम रोज-रोज रोने के बारे में अपनी इस धारणा से और ऐसी ही तमाम धारणाओं से लैस करते हैं, उनकी सहज भावनात्मक अभिव्यक्तियों की खिल्ली उड़ाते हैं और इस तरह तिल-तिल कर उन्हें संवेदनहीन बनाते जाते हैं। वर्तमान समाज के एक आदर्श भावी नागरिक के रूप में उन्हें ढालते जाते हैं। यदि वह लड़का है तो उसे स्त्री पर शासन करने वाले निरंकुश निर्मम व्यक्ति के रूप में और यदि लड़की है तो इसे पुरुष सत्ता को स्वीकारने वाली स्त्री के रूप में ढालने का काम परिवार से लेकर समाज और विद्यालयों तक एक सतत प्रक्रिया के रूप में जारी रहता है।

प्रायः यह भी कहा जाता है कि ख्याल करना, प्यार करना और सेवा-सुश्रुषा स्त्रियों के विशेष गुण है। ऐसा हो सकता है कि प्राकृतिक वस्तुगत स्थितियों और विशिष्टताओं (जैसे गर्भधारण, संतानोत्पत्ति, स्तनपान आदि) के कारण स्त्रियों में ये गुण विशेष रूप से कुछ अधिक मात्रा में पाये जाते हों। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि 'केयरिंग', 'केयरेसिंग' या 'नर्सिंग' पुरुषों के गुण ही नहीं या कि ये काम या भाव पुरुषोचित नहीं हैं। जब ऐसी बातें की जाती हैं तो उसके पीछे भी यह पूर्वाग्रह काम करता रहता है कि सेवा धर्म स्त्री का धर्म है, स्त्री पुरुष की सेवा करती है और पुरुष स्त्री की हिफाजत करता है आदि-आदि। गौर करने की बात है जब स्त्री-पुरुष के बीच प्यार की अभिव्यक्ति की बात आती है तो पुरुष को भावनात्मक रूप से सक्रिय जीव और स्त्री को माल (प्यार का पात्र) एक वस्तु मान लिया जाता है। पुरुष इश्क का साकार रूप होता है और स्त्री हुस्न का। हुस्न प्यार नहीं करता, वह प्यार करने की वस्तु होता है। 'तू हुस्न है, मैं इश्क हूँ, तू मुझमें है मैं तुझमें हूँ'। आत्मा-परमात्मा सदृश हुस्न-इश्क की इस एकरूपता में भी द्वैधता है—हर हाल में इश्क पुरुष ही होता है और हुस्न स्त्री ही।

विडंबना यह भी है कि पुरुष प्रभुत्व के सामाजिक-आत्मिक मूल्यों-मान्यताओं-धारणाओं से नारी मुक्ति की पैरोकार स्त्रियां भी ग्रस्त हैं। हावभाव, वेशभूषा तथा जीवनशैली में पुरुषों का अंधानुकरण भी स्त्री की हीन ग्रंथि की ही परिचायक है।

कुल मिलाकर, तर्क, विज्ञान, समानता और जनवाद में विश्वास रखने वाले लोगों को स्त्रियों व पुरुषों में नैसर्गिक व स्वाभाविक माने जाने वाले सभी गुणों के बारे में स्थापित धारणाओं पर पुनर्विचार करना होगा। उन्हें सोचना होगा कि

रोना स्त्रियोचित क्यों है और न रोना पुरुषोचित क्यों है।

(‘दुर्ग द्वार पर दस्तक’ से)

बच निकलना

चीज़ों के बारे में

सोचने के लिए कहा उन्होंने

हमें

चीज़ों में बदल डालने के लिए।

हमने सोचा

चीज़ों के बारे में

चीज़ों में बदल जाने से

बचने के लिए।

आह्वान कैम्पस टाइम्स, अक्टूबर-दिसम्बर 1999

“आनर किलिंग”- सम्मान के नाम पर हत्या या सम्मान के साथ ना जीने देने का जुनून

नमिता

पिछले कुछ सालों से भारत के प्रिण्ट तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में “ऑनर किलिंग” की चर्चा होती रही है और यह चर्चा आज भी जारी है। मीडिया में कभी-कभी तो इस मुद्दे पर ज़ोर-शोर से चर्चा होती है और कभी मद्धिम स्वर में। लेकिन मीडिया की सुर्खियों से दूर सम्मान के नाम पर नौजवान लड़के-लड़कियों की हत्याओं का सिलसिला बदस्तूर जारी है। सम्मान के नाम पर होने वाली सभी हत्याएँ तो मीडिया की सुर्खियों में आती भी नहीं। बहुत सारी हत्याएँ तो आत्महत्या या दुर्घटनाएँ बताकर ही दबा दी जाती हैं। “आनर किलिंग”, जैसा कि नाम से ही जाहिर है सम्मान के लिए किसी की हत्या। “सम्मान” के नाम पर हर साल भारत में लगभग 1 हज़ार युवाओं (यह आँकड़ा तो सरकारी है पर असल संख्या इससे कहीं अधिक है।) की हत्या की जाती है। इन युवाओं का (गुनाह) सिर्फ इतना ही होता है कि कि वे अपना जीवन साथी अपनी पसन्द से चुनने की ज़रूरत करते हैं। लेकिन प्रतिक्रियावादियों, सामाजिक नैतिकता के तथाकथित ठेकेदारों को इतना भी मंज़ूर नहीं है।

यह सिर्फ हमारे देश में ही नहीं होता बल्कि किसी ना किसी रूप में यह दुनिया के कई देशों में होता है। कई देशों में सम्मान के नाम पर होने वाली हत्याओं में अधिकतर स्त्रियों को निशाना बनाया जाता है। ‘विकीपीडिया’ के मुताबिक अल्बानिया, बांग्लादेश, जर्मनी, भारत, ईरान, इराक, इज़राइल, जार्डन, इटली, मोरक्को, पाकिस्तान, तुर्की, युगाण्डा आदि देशों में सम्मान के नाम पर हत्याएँ की जाती हैं। अमेरिका, कनाडा, डेनमार्क, जर्मनी, इटली, स्वीडन आदि ऐसे देश हैं, जिनके विशिष्ट ऐतिहासिक विकास के चलते यहाँ के सामाजिक ताने-बाने में जनवादी मूल्य-मान्यताएँ तुलनात्मक रूप से ज़्यादा गहरी रची-बसी हैं और शक्तिशाली स्त्री आन्दोलन के चलते स्त्रियों ने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में निर्णय लेने के अधिकार को लड़कर हासिल किया है। वहाँ किसी भी नागरिक की निजता और व्यक्तिगत आज़ादी का दूसरे नागरिक

सम्मान करते हैं। युवाओं के प्रेम और शादी से सम्बन्धित फैसलों को वहाँ के समाजों में खुशी-खुशी स्वीकार किया जाता है। युवाओं के प्रेम और शादी के मामलों में तीसरे व्यक्ति का दखल पूरी तरह खत्म हो चुका है। ‘अरेंज्ड मैरिज’ की परम्परा बहुत पहले ही वहाँ इतिहास के कूड़ेदान में पहुँच चुकी है। इस समय इन देशों में “आनर किलिंग” के मामले उन्हीं लोगों में सामने आ रहे हैं जो पिछड़े देशों खासकर एशियाई देशों से आकर यहाँ बस गये हैं।

आइए अब “ऑनर किलिंग” की इस व्यापक परिघटना पर एक निगाह डालें। न्यूयार्क टाइम्स की एक रिपोर्ट के अनुसार, 1991 में इराकी कुर्दिस्तान में 12,000 से भी अधिक स्त्रियों की सम्मान के नाम पर हत्या की गई। ब्रिटेन में हर साल 17 हजार से भी अधिक स्त्रियाँ इस तथाकथित सम्मान के लिए हिंसा का शिकार बनती हैं, जिसमें कई बार हत्या भी शामिल होती है। बी.बी. सी. की 2005 की रिपोर्ट के अनुसार पाकिस्तान में चार हजार से भी अधिक स्त्रियाँ “ऑनर किलिंग” का शिकार हुईं, जहाँ इसे ‘कारो-कारी’ के नाम से जाना जाता है।

एक महिला के “ऑनर किलिंग” के शिकार होने का कारण सिर्फ प्रेम ही नहीं बल्कि कई अन्य कारण “सम्मान” की खातिर किसी की जान लेने के हकदार हो जाते हैं, खासतौर पर स्त्रियों की। जैसे अगर स्त्री पति से तंग आकर तलाक चाहती है या किसी अन्य पुरुष से सम्बन्ध रखती है, आदि। बहुत सारे मामलों में तो सिर्फ शक्र के आधार पर ही उनकी हत्या को जायज़ माना जाता है। उदाहरण के लिए जार्डन में 2007 में एक 17 साल की लड़की को सिर्फ इसलिए मार दिया गया क्योंकि कातिलों को शक था कि उसका किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध है।

“सम्मान” के नाम पर हत्या का तरीका इतना घिनौना और भयंकर होता है जैसा कि जानवरों के साथ भी नहीं किया जाता होगा। “दोषियों” को पत्थर मारकर, गला दबाकर, गोली मारकर और ज़िन्दा जलाकर ये हत्यारे अपने “सम्मान” की रक्षा करते हैं। आमतौर पर स्त्रियों को इतना ज्यादा परेशान किया जाता है कि वे खुदकुशी करने को मजबूर हो जाती हैं।

हालाँकि इसके खिलाफ भी कई कानून बने हैं, जो अन्य कानूनों की ही तरह फाइलों की धूल चाट रहे हैं जिन पर कोई अमल नहीं होता। कई देशों में तो ऐसे भी कानून हैं जो “सम्मान” के लिए की जाने वाली हत्याओं को जायज़

ठहराते हैं और कातिलों को ऐसा करने की खुली छूट देते हैं।

पाकिस्तान में “ऑनर किलिंग” के लिए सज़ा है पर अमल में पुलिस और कोर्ट इसका खुलेआम उल्लंघन करते हैं। अगर कातिल यह दावा कर दे कि उसने यह करतूत “सम्मान” के लिए की है तो वह दोषमुक्त हो जाता है। ज़्यादातर कानून ऐसे हैं जो पीड़ितों की मदद ना करके कातिलों की रक्षा करते हैं।

पाकिस्तान में ज़िया उल-हक के शासन के दौरान बने कानून के अनुसार कातिल पीड़ित के रिश्तेदारों को कुछ मुआवजा देकर आराम से बरी हो सकते हैं। यह कानून आज भी पाकिस्तान में ‘कारो-कारी’ को खुलेआम बढ़ावा दे रहा है। ज़्यादातर मामलों में तो कातिल पीड़ित का करीबी रिश्तेदार ही होता है, इसलिए उसे माफी के लिए बिना कोई मुआवजा दिये मुक्ति मिल जाती है।

जार्डन के वर्तमान कानून ‘पैनल कोड 340’ के मुताबिक, जिसे अपनी पत्नी या स्त्री रिश्तेदार के “नाजायज़” सम्बन्धों का पता लग गया है वह उसे मार सकता है या ज़ख्मी कर सकता है और बिना किसी सज़ा के खुलेआम घूम सकता है। सीरियाई कानून के मुताबिक भी अगर किसी की पत्नी, बहन या स्त्री रिश्तेदार के किसी अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध हों तो वह उसकी हत्या करने का हक़दार है। इन सभी देशों का कानून पुरुषों को परिवार के “सम्मान” के नाम पर महिलाओं की हत्या करने का साहस देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो इन अमानवीय हत्याओं को कानूनी संरक्षण मिला हुआ है। यदि किसी भी रिश्ते में कोई एक साझीदार वफ़ादार न हो तो दूसरे साझीदार को उसे छोड़ने का हक़ नैसर्गिक तौर पर प्राप्त है। लेकिन वफ़ाई-बेवफ़ाई के आधार पर कोई किसी की जान ले, यह असभ्य समाज की ही निशानी हो सकती है।

जो समाज अपनी युवा पीढ़ी को अपनी ज़िन्दगी के बारे में फैसले लेने की इजाज़त नहीं देता, जहाँ परिवारों में पुरानी पीढ़ी और पुरुषों की निरंकुश सत्ता आज भी कायम है, जिस समाज में रुढ़ियों, परम्पराओं के मजबूत बन्धन आज भी कायम है वह समाज पूँजीवाद के हर तरह के अन्याय को स्वीकारने के लिए अभिशप्त है।

दरअसल “सम्मान” के नाम पर हत्याओं की यह अमानवीय परिघटना उन्हीं देशों में अधिक है जहाँ बिना किसी जनवादी क्रान्ति के, धीमे सुधारों की

क्रमिक प्रक्रिया के जरिये पूँजीवादी विकास हुआ है। इन देशों में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध तो कायम हुए हैं, लेकिन यह पूँजीवाद यूरोपीय देशों की तरह यहां जनवादी मूल्य लेकर नहीं आया। सामाजिक-सांस्कृतिक धरातल पर आज भी यहाँ सामन्ती मूल्यों की जकड़ बेहद मजबूत है। इन देशों (भारत भी इनमें से एक है) के सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने में गैरजनवादी मूल्य गहरे रचे-बसे हैं। इसी कारण यहां व्यक्तिगत आज़ादी और निजता जैसी अवधारणाओं के लिए कोई जगह नहीं है। व्यक्ति के जीवन के हर फैसले में समाज दखल देता है चाहे वह प्रेम का सवाल हो, शादी का, रोजगार का या कोई अन्य।

इस समस्या का हल वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के आमूलचूल परिवर्तन के साथ जुड़ा हुआ है। निश्चित तौर पर हमें पूँजीवाद के अन्त का इन्तज़ार नहीं करना होगा और अभी से ही ज़बर्दस्त सांस्कृतिक प्रचार और स्त्रियों की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष के जरिये इन घिनौनी प्रवृत्तियों के खिलाफ़ संघर्ष करना होगा। लेकिन यह भी तय है कि इन समस्याओं का टिकाऊ समाधान एक ऐसे सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में ही सम्भव है जो हर प्रकार से मनुष्यों के बीच शोषण और उत्पीड़न के सम्बन्धों को असम्भव बना दे।

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, जनवरी-फरवरी 2012

स्त्री को एक वस्तु बनाकर पेश कर रहा सिनेमा

रोशन

सिनेमा आज कला का सबसे अधिक प्रभावी और सबसे अधिक व्यापक पहुँच वाला माध्यम है। ऐसे समाज में जहाँ सम्पत्ति के मालिकों व उज़रती मज़दूरों के वर्ग के बीच टकराव चल रहा है वहाँ सिनेमा भी इस टकराव से मुक्त नहीं होता। सिनेमा द्वारा पेश किये जा रहे विचार दोनों में से एक वर्ग के पक्ष में भुगतते जाते हैं। किसी भी समाज में हावी विचार राजनीतिक-आर्थिक साधनों पर काबिज वर्ग के होते हैं। कला अधिरचना का अंग होती है और वह तत्कालीन समाज के आर्थिक ताने-बाने और सम्बन्धों के आधार पर खड़ी होती है। हालाँकि कला की अपनी सापेक्षिक स्वतन्त्र आन्तरिक गतिकी के कारण यह यथार्थ के आयामों की पुनर्रचना कर सत्य को प्रकट कर सकती है और मनुष्यता के सारतत्व को संवेदित कराकर आत्मिक संसार को विस्तृत और गहरा बनाती हुई चल सकती है। परन्तु जब कला का क्षेत्र सृजन के प्राधान्य के बजाय उद्योग बन जाए और मुनाफ़ा उसका केंद्रीय तत्व बन जाए तो स्थिति अपने विलोम में बदल जाती है। पूँजी निवेश के द्वारा मनोरंजन उद्योग के साथ सिनेमा आज जिन मूल्यों की कला प्रस्तुत कर रहा है वह वर्तमान पूँजीवादी सड़ाँधता की स्वीकृति का पक्ष है। इसलिये आज सिनेमा में हावी विचार भी पूँजीपति वर्ग के विचार हैं। सिनेमा आज आम राय बनाने का एक बड़ा हथियार बन चुका है। सिनेमा द्वारा लोगों के अचेत मन में पर्त-दर-पर्त इतनी बारीकी से मौजूदा व्यवस्था के पक्ष के विचार दाखिल किये जाते हैं कि सिनेमा का लाभ उठाते लोगों को महसूस भी नहीं होता। मौजूदा सिनेमा की अधिकतर फिल्में ऐसी होती हैं कि जिन्हें देखते समय दर्शक एक तरह से अपना दिमाग घर रख आता है। ऐसी फिल्में मनोरंजन के साथ-साथ दर्शक के अन्दर आलोचनात्मक चिन्तन विकसित करने की जगह उनकी चेतना कुन्द करती हैं, उन्हें गैर-गम्भीर और संवेदनहीन बनाती हैं। कुछ फिल्में वे भी बनती हैं जिन्हें समाज का सोचने-विचारने वाला वर्ग देखता है, ये फिल्में अपने तरीके

से एक वर्ग के विचारों को लोगों की चेतना का हिस्सा बनाती हैं। अधिकतर फिल्मों में समाज में मौजूद पूँजीवादी विचारधारा और समाज के कई पूर्वाग्रह की पेशकारी करती हैं और इस पेशकारी के साथ उन्हें लोगों के मन में और पक्का भी करती हैं। सिनेमा में स्त्रियों की पेशकारी भी कुछ इसी प्रकार की ही है।

फिल्मों पर पिछले कुछ वर्षों से खोज कर रही एक संस्था ने 2015 की विश्व की 100 शिखर फिल्मों के बारे कुछ आँकड़े जारी किये हैं। ये शिखर की 100 फिल्मों पश्चिमी सिनेमा की ही फिल्मों हैं। ये आँकड़े सिनेमा में होते लिंग और नस्ल पर आधारित भेद-भाव की एक झलक पेश करते हैं। इस खोज के अनुसार इन 100 फिल्मों में से 4,370 ऐसे पात्र थे जो कुछ बोलते थे और जिन्हें कोई नाम दिया गया है। इन पात्रों में से 68.6 प्रतिशत मर्द थे और 31.4 प्रतिशत औरतें। 92.5 प्रतिशत फिल्मों का निर्देशन मर्दों द्वारा किया गया था और सिर्फ 7.5 प्रतिशत फिल्मों का निर्देशन स्त्रियों द्वारा किया गया था। स्त्री-मर्द की तथाकथित समानता माने जाने वाले पश्चिमी समाज के ये आँकड़े विकसित समाज में स्त्रियों की दूसरे दर्जे की स्थिति पेश करते हैं।

इतना ही नहीं बल्कि इन फिल्मों में स्त्रियों की जिस रूप में पेशकारी की जाती है उससे सम्बन्धी आँकड़े गौरतलब है। इस खोज के मुताबिक इन 100 फिल्मों में मौजूद स्त्रियों में से 31.2 प्रतिशत स्त्रियों को नग्न होते, कपड़े उतारते और मर्दों को रिझाते हुए दिखाया गया है जबकि सिर्फ 7.7 प्रतिशत मर्दों की भूमिकाएँ ऐसी हैं। मतलब औरतों का लगभग तीसरा हिस्सा कामुकता तक सीमित कर दिया गया है। हॉलीवुड की फिल्मों में औरतों की ऐसी पेशकारी का रुझान हावी है। ज्यादातर फिल्मों में औरतों की भूमिका मर्दों को खुश करने, उन्हें प्यार करने तक सीमित कर दिया जाता है। ये फिल्में आम रूप में भी यह प्रभाव पैदा करती हैं कि स्त्रियाँ सिर्फ भोग विलास की वस्तु हैं। फिल्मों में स्त्रियों का यह अक्स न सिर्फ विकसित माने जाते समाज की स्त्रियों के प्रति सोच उजागर करता है बल्कि इस अक्स को और ज़ोर-शोर से समाज में स्थापित करता है। इन फिल्मों द्वारा बचपन से ही बच्चों के मन में स्त्री का अक्स एक कामुक आनन्द वाली वस्तु के रूप में बनना शुरू हो जाता है। औरतों के इसी अक्स के कारण आज पोर्न उद्योग का आम फिल्मों से अधिक का कारोबार है और इसी कारण औरतों के खिलाफ़ जुर्म और स्त्री-मर्द सम्बन्धों में पतनशीलता तेज़ी से बढ़ रही है।

सभी फिल्मों में ही स्त्रियाँ इसी एक रूप में ही पेश नहीं होतीं। अनेको फिल्मों में उन्हें एक साधारण नागरिक या एक महत्वपूर्ण किरदार के रूप में भी पेश किया जाता है, लेकिन ऐसी फिल्मों की संख्या कम है और स्त्रियों को एक वस्तु बना कर पेश करने का रुझान ही हावी है। यह रुझान हॉलीवुड में ही नहीं बल्कि विश्व भर की फिल्मों में देखने को मिल रहा है। बॉलीवुड में भी औरतों की इस रूप में पेशकारी प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। आइटम गीत, स्त्रियों के जिस्म की नुमाइश और अश्लील दृश्य पेश करना, आज फिल्मों द्वारा ज़्यादा-से-ज़्यादा कमाई करने का नुस्खा बन चुके हैं। भारत में ऐसी फिल्में भी बनती हैं जिनमें औरत को दया का पात्र बना कर पेश किया जाता है और उनकी बेहतरी मर्दों के सहारे पर टिकी होती है। ये फिल्में दूसरे छोर पर जाकर औरतों को गुलाम दिखाती हैं। औरतों की एक तीसरे रूप में पेशकारी भी है जिसमें उन्हें पवित्र बना कर पेश किया जाता है और इस तरह उन पर कई पाबन्दियाँ थोप दी जाती हैं। इसके साथ संस्कारी, घरेलू और भारतीय नारी का प्रतिबिम्ब लगाया जाता है। जो स्त्री इस अक्स पर खरी उतरती है वह सम्मान की पात्र है और जो पहचान के इस खोल को तोड़ कर निकलना चाहती है वे अपनी बर्बादी, अपमान के लिये खुद ज़िम्मेदार हैं। मतलब भारतीय फिल्मों में पश्चिमी तर्ज़ पर स्त्रियों को वस्तु बनाकर पेश करने के साथ-साथ उन्हें सामन्ती बन्धनों में बाँध कर भी पेश किया जाता है जहाँ उसका काम घर-बार सँभालना, बच्चे पालना और मर्द की सेवा करना होता है। एक आज़ाद और बराबरी का दर्ज़ा रखने वाले इंसान के तौर पर उसकी यहाँ भी कोई औकात नहीं है।

इस तरह सिनेमा में औरतों को उस रूप में पेश किया जाता है जिस रूप में पूँजीवादी व्यवस्था उन्हें देखती है। मौजूदा व्यवस्था के लिये औरत एक भोगने की वस्तु है और उसका जिस्म नुमाइश लगाने की चीज़ है जिसको बाज़ार में कई तरह का माल बेचने के लिये इस्तेमाल किया जाता है। ऐसी औरत की तो मनुष्य के तौर पर कोई पहचान ही नहीं है बल्कि जिन मर्दों के मन में स्त्री का ऐसा अक्स बनता है वे भी मनुष्य होने की संवेदना गँवा चुके और पशु बन चुके हैं। मौजूदा समाज में स्त्री को मनुष्य का दर्ज़ा दिलवाने के लिये उन सामाजिक सम्बन्धों को तोड़ना ज़रूरी है जिनके केन्द्र में मुनाफा और इसके साथ जुड़ी हर तरह की वहशी हवस है। इस सामाजिक व्यवस्था को बदलने के साथ-साथ सिनेमा और कला और साहित्य के अन्य माध्यमों में भी स्त्रियों की इस तरह की पेशकारी के खिलाफ़ आन्दोलन चलाया जाना चाहिए और इन क्षेत्रों में मज़दूर

वर्ग के नज़रिये वाले साहित्य, कला और सिनेमा को ये लोगों में ले जाया जाना चाहिए जिन में स्त्रियाँ और मर्द आज़ादी, समानता के साथ भी सब मानवीय भावनाओं के साथ लबरेज़ मनुष्यों के रूप में सामने आते हैं। यानी सामाजिक सम्बन्धों के खिलाफ़ लड़ाई के साथ-साथ अपनी पूरी आत्मिक दौलत के साथ मनुष्य होना क्या होता है, यह भी लोगों को सिखाया जाना चाहिए।

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, जुलाई-अगस्त 2017

यह आर्तनाद नहीं, एक धधकती हुई पुकार है!

लखनऊ के मोहनलालगंज में 17 जुलाई को एक और युवती भूखे भेड़ियों का शिकार बन गयी। दिल्ली में 16 दिसम्बर 2012 जैसी बर्बरता एक बार फिर दोहरायी गयी। कोई दिन नहीं होता जब किसी-न-किसी के आसपास कोई स्त्री इस हैवानियत का शिकार नहीं होती – छोटी बच्चियों से लेकर उम्रदराज़ औरतें तक सुरक्षित नहीं हैं छुट्टा घूमते इन जानवरों से। देश में हर 2 मिनट पर किसी स्त्री के साथ बलात्कार होता है! सरकार और प्रशासन में बैठे लोग अन्धे-बहरे ही नहीं अपराधों पर परदा डालने में भागीदार बन चुके हैं। आप कब तक यह सोचकर निश्चिन्त रहेंगे कि आग की आँच अभी आपके आसपास नहीं पहुँची है? चुप बैठे रहेंगे तो बर्बर मर्दवाद को खुला प्रोत्साहन इसी तरह जारी रहेगा और क़ानून-व्यवस्था इसी तरह दबंगों के हाथों गिरवी रहेगी।

स्त्रियों के विरुद्ध दरिन्दगी की बढ़ती घटनाओं और इसके बावजूद समाज में छापी चुप्पी और ठण्डेपन पर कात्यायनी ने यह कविता मोहनलालगंज की घटना की ख़बर आने पर लिखी थी।

जागो मृतात्माओ!
बर्बर कभी भी तुम्हारे दरवाज़े पर दस्तक दे सकते हैं।
कायरो! सावधान!!
भागकर अपने घर पहुँचो और देखो
तुम्हारी बेटी कॉलेज से लौट तो आयी है सलामत,
बीवी घर में महफूज़ तो है।
बहन के घर फ़ोन लगाकर उसकी भी खोज-ख़बर ले लो!
कहीं कोई औरत कम तो नहीं हो गयी है
तुम्हारे घर और कुनबे की?
मोहनलालगंज, लखनऊ के निर्जन स्कूल में जिस युवती को
शिकारियों ने निर्वस्त्र दौड़ा-दौड़ाकर मारा 17 जुलाई को,

उसके जिस्म को तार-तार किया
 और वह जूझती रही, जूझती रही, जूझती रही...
 ...अकेले, अन्तिम साँस तक
 और मदद को आवाज़ भी देती रही
 पर कोई नहीं आया मुर्दों की उस बस्ती से
 जो दो सौ मीटर की दूरी पर थी।
 उस स्त्री के क्षत-विक्षत निर्वस्त्र शव की शिनाख्त नहीं हो सकी है।
 पर कायरो! निश्चिन्त होकर बैठो
 और पालथी मारकर चाय-पकौड़ी खाओ
 क्योंकि तुम्हारे घरों की स्त्रियाँ सलामत हैं।
 कुछ किस्से गढ़ो, कुछ कल्पना करो, बेशर्मा !
 कल दफ्तर में इस घटना को एकदम नये ढंग से पेश करने के लिए।
 बर्बर हमेशा कायरों के बीच रहते हैं।
 हर कायर के भीतर अक्सर एक बर्बर छिपा बैठा होता है।
 चुप्पी भी उतनी ही बेरहम होती है
 जितनी गोद-गोदकर, जिस्म में तलवार या रॉड भोंककर
 की जाने वाली हत्या।
 हत्या और बलात्कार के दर्शक,
 स्त्री आखेट के तमाशाई
 दुनिया के सबसे रुग्ण मानस लोगों में से एक होते हैं।
 16 दिसम्बर 2012 को चुप रहे
 उन्हें 17 जुलाई 2014 का इन्तज़ार था
 और इसके बीच के काले अँधेरे दिनों में भी
 ऐसा ही बहुत कुछ घटता रहा।
 कह दो मुलायम सिंह कि 'लड़कों से तो ग़लती हो ही जाती है,
 इस बार कुछ बड़ी ग़लती हो गयी।'
 धर्मध्वजाधारी कूपमण्डूको, भाजपाई फासिस्टो,
 विहिप, श्रीराम सेने के गुण्डो, नागपुर के हाफ़पैण्टियो,
 डाँटो-फटकारो औरतों को
 दौड़ाओ डण्डे लेकर
 कि क्यों वे इतनी आज़ादी दिखलाती हैं सड़कों पर

कि मर्द जात को मजबूर हो जाना पड़ता है
 जंगली कुत्ता और भेड़िया बन जाने के लिए।
 मुल्लाओ ! कुछ और फ़तवे जारी करो
 औरतों को बाड़े में बन्द करने के लिए,
 शरिया क़ानून लागू कर दो,
 “नये ख़लीफ़ा” अल बग़दादी का फ़रमान भी ले आओ,
 जल्दी करो, नहीं तो हर औरत
 लल द्यद बन जायेगी या तस्लीमा नसरीन की मुरीद हो जायेगी।
 बहुत सारी औरतें बिगड़ चुकी हैं
 इन्हें संगसार करना है, चमड़ी उधेड़ देनी है इनकी,
 ज़िन्दा दफ़न कर देना है
 त्रिशूल, तलवार, नैजे, खंजर तेज़ कर लो,
 कोड़े उठा लो, बागों में पेड़ों की डालियों से फाँसी के फँदे लटका दो,
 तुम्हारी कामाग्नि और प्रतिशोध को एक साथ भड़काती
 कितनी सारी, कितनी सारी, मगरूर, बेशर्म औरतें
 सड़कों पर निकल आयी हैं बेपर्दा, बदनदिखाऊ कपड़े पहने,
 हँसती-खिलखिलाती, नज़रें मिलाकर बात करती,
 अपनी ख़्वाहिशें बयान करती !
 तुम्हें इस सभ्यता को बचाना है
 तमाम बेशर्म-बैरत-आज़ादख़्याल औरतों को सबक़ सिखाना है।
 हर 16 दिसम्बर, हर 17 जुलाई
 देवताओं का कोप है
 खुदा का कहर है
 बर्बर बलात्कारी हत्यारे हैं देवदूत
 जो आज़ाद होने का पाप कर रही औरतों को
 सज़ाएँ दे रहे हैं इसी धरती पर
 और नर्क से भी भयंकर यन्त्रणा के नये-नये तरीके आज़माकर
 देवताओं को ख़ुश कर रहे हैं।
 बहनो ! साथियो ! !
 डरना और दुबकना नहीं है किसी भी बर्बरता के आगे।
 बकने दो मुलायम सिंह, बाबूलाल गौर और तमाम ऐसे

मानवद्रोहियों को, जो उसी पूँजी की सत्ता के
 राजनीतिक चाकर हैं, जिसकी रुग्ण-बीमार संस्कृति
 के बजबजाते गटर में बसते हैं वे सूअर
 जो स्त्री को मात्र एक शरीर के रूप में देखते हैं।
 इसी पूँजी के सामाजिक भीटों बाँबियों-झाड़ियों में
 वे भेड़िये और लकड़बगधे पलते हैं
 जो पहले रात को, लेकिन अब दिन-दहाड़े
 हमें अपना शिकार बनाते हैं।
 क़ानून-व्यवस्था को चाक-चौबन्द करने से भला क्या होगा
 जब खाकी वर्दी में भी भेड़िये घूमते हों
 और लकड़बगधे तरह-तरह की टोपियाँ पहनकर
 संसद में बैठे हों?
 मोमबत्तियाँ जलाने और सोग मनाने से भी कुछ नहीं होगा।
 अपने हृदय की गहराइयों में धधकती आग को
 ज्वालामुखी के लावे की तरह सड़कों पर बहने देना होगा।
 निर्बन्ध कर देना होगा विद्रोह के प्रबल वेगवाही ज्वार को।
 मुट्ठियाँ ताने एक साथ, हथौड़े और मूसल लिए हाथों में निकलना होगा
 16 दिसम्बर और 17 जुलाई के खून जिन जबड़ों पर दीखें,
 उन पर सड़क पर ही फैसला सुनाकर
 सड़क पर ही उसे तामील कर देना होगा।

बहनो! साथियो!!
 मुट्ठियाँ तानकर अपनी आज़ादी और अधिकारों का
 घोषणापत्र एक बार फिर जारी करो,
 धर्मध्वजाधारी प्रेतों और पूँजी के पाण्डुर पिशाचों के खिलाफ़।
 मृत परम्पराओं की सड़ी-गली बास मारती लाशों के
 अन्तिम संस्कार की घोषणा कर दो।
 चुनौती दो ताकि बौखलाये बर्बर बाहर आयें खुले में।
 जो शिकार करते थे, उनका शिकार करना होगा।

बहनो! साथियो!!
 बस्तियों-मोहल्लों में चौकसी दस्ते बनाओ!
 धावा मारो नशे और अपराध के अड्डों पर!

घेर लो स्त्री-विरोधी बकवास करने वाले नेताओं-धर्मगुरुओं को सड़कों पर
अपराधियों को लोक पंचायत बुलाकर दण्डित करो !
अगर तुम्हे बर्बर मर्दवाद का शिकार होने से बचना है
और बचाना है अपनी बच्चियों को
तो यही एक राह है, और कुछ नहीं, कोई भी नहीं ।

बहनो ! साथियो !!
सभी मर्द नहीं हैं मर्दवादी ।
जिनके पास वास्तव में सपना है समतामूलक समाज का
वे स्त्रियों को मानते हैं बराबर का साथी,
जीवन और युद्ध में ।
वे हमारे साथ होंगे हमारी बगावत में, यकीन करो !
श्रम-आखेटक समाज ही स्त्री आखेट का खेल रचता है ।
हमारी मुक्ति की लड़ाई है उस पूँजीवादी बर्बरता से
मुक्ति की लड़ाई की ही कड़ी,
जो निचुड़ी हुई हड्डियों की बुनियाद पर खड़ा है ।
इसलिए बहनो ! साथियो !!
कड़ी से कड़ी जोड़ो ! मुट्टियों से मुट्टियाँ !
सपनों से सपने ! संकल्पों से संकल्प !
दस्तों से दस्ते !
और आगे बढ़ो बर्बरों के अड्डों की ओर !
18 जुलाई 2014

मज़दूर बिगुल, जुलाई 2014

स्त्री मज़दूर स्त्री मज़दूरों और उनकी माँगों के प्रति पुरुष मज़दूरों का नज़रिया

कविता

न सिर्फ आम मज़दूरों में बल्कि ज़्यादातर आगे बढ़े हुए और जुझारू चेतना वाले मज़दूरों में भी स्त्री मज़दूरों की माँगों के प्रति सहानुभूति या समर्थन के रवैये का अभाव दिखायी देता है।

चाहे स्त्री-पुरुष मज़दूरों के लिए समान कार्य के समान वेतन की माँग हो, चाहे मातृत्व अवकाश और नवजात पालन-पोषण अवकाश की माँग हो, चाहे कारख़ानों-वर्कशॉपों में शिशुशाला (क्रेच) और बाल शिक्षा (प्री-नर्सरी और नर्सरी) की व्यवस्था की माँग हो, चाहे कार्यस्थलों पर स्त्री मज़दूरों के लिए अलग टॉयलेट और रेस्टरूम की माँग हो, चाहे रात की पाली में काम करने वाली औरतों के आने-जाने और सुरक्षा के इन्तज़ाम की माँग हो, ज़्यादातर पुरुष मज़दूर अक्सर स्त्री मज़दूरों की इन माँगों की या तो उपेक्षा और अनदेखी करते हैं या मन ही मन इनके प्रति विरोध भाव रखते हैं। जो मज़दूर पीस रेट की व्यवस्था को ख़त्म करने और पीस रेट पर काम करने वालों से जुड़ी तमाम माँगों को उचित मानते हैं, उन्हीं में से ज़्यादातर ऐसे भी हैं जो चाहते हैं कि उनकी पत्नी, बहन या बेटी घर में ही रहकर तमाम घरेलू ज़िम्मेदारियाँ सम्हालते हुए पीस रेट पर काम करके कुछ कमा लिया करें। इस प्रकार स्त्री मज़दूर चूल्हे-चौखट की गुलामी के साथ-साथ पूँजीपतियों के लिए सबसे सस्ती दरों पर श्रम-शक्ति बेचने वाली और सबसे अधिक हाड़तोड़ मेहनत करने वाली उजरती गुलाम बनकर रह जाती है।

उत्पादन और जीने के तौर-तरीके में तकनोलॉजी ने जो भारी बदलाव पैदा किये हैं, उनसे आधुनिक मज़दूर वर्ग का जीवन भी अछूता नहीं है, लेकिन

जहाँ तक सोच-विचार-संस्कार का सवाल है, सदियों पुराने स्त्री-विरोधी मर्दवाद (पुरुष स्वामित्ववाद) से उनका पीछा अभी भी छूटा नहीं है। इन पुराने मूल्यों को आज के पूँजीवाद ने न केवल बनाये रखा है, बल्कि खाद-पानी देने का काम भी किया है। केवल एक उदाहरण काफ़ी होगा। आप उन तमाम टीवी सीरियलों और फिल्मों को याद कर सकते हैं जो परम्परागत स्त्री की छवि, पुरातनपंथी रीति-रिवाजों और पुरुष स्वामित्ववादी धार्मिक रूढ़ियों को महिमामण्डित करके परोसते रहते हैं। जो पूँजीवाद मुनाफ़ा बढ़ाने और माल बेचने के लिए नयी से नयी तकनोलॉजी के इस्तेमाल के लिए तत्पर रहता है, वहीं मेहनतकश आम जनता को पूँजी की सत्ता के खिलाफ़ बगावत करने से रोकने के लिए अन्धविश्वास, भाग्यवाद, धार्मिक रूढ़ियों और पुरातनपंथी मूल्यों को न सिर्फ़ अपना लेता है, बल्कि नये-नये ढंग से उनकी पैकेजिंग करके प्रस्तुत करता रहता है। इतिहास पर यदि निगाह डालें तो यूरोप में सत्तासीन होते ही पूँजीपति वर्ग ने न सिर्फ़ 'स्वतंत्रता-समानता-भातृत्व' के झण्डे को धूल में फेंक दिया बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के स्तर पर भी तर्क, विज्ञान और भौतिकवादी मूल्यों को तिलांजलि देकर धार्मिक रूढ़ियों-अन्धविश्वासों को बढ़ावा देने लगा था। फिर भी उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय पूँजीवादी समाजों में एक हद तक जनवादी मूल्य और स्पेस बने हुए थे। बीसवीं सदी साम्राज्यवाद की सदी थी जब पूँजीवादी पतनशीलता की ऐतिहासिक ढलान की शुरुआत हुई। बुर्जुआ जनवादी मूल्य विघटित होने लगे और समाज में जनवादी स्पेस सिकुड़ता चला गया। बीसवीं सदी के आखिरी दशकों से लेकर अब तक का समय, जिसे भूमण्डलीकरण का दौर कहा जा रहा है, वह पूरी दुनिया के उन्नत और पिछड़े – सभी पूँजीवादी समाजों में चरम पतनशील, निरंकुश, सर्वसत्तावादी सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्यों के वर्चस्व के साथ ही धार्मिक कट्टरपंथ, पुनरुत्थानवाद और रूढ़िवाद के व्यापक फैलाव का दौर है। एक तो आज का चरम पतनशील पूँजीवादी समाज अपनी स्वतन्त्र गति से इन चीजों को जन्म दे रहा है, दूसरे, शासक पूँजीपति वर्ग मेहनतकश जन-समुदाय को अपनी नारकीय जीवन-स्थितियों के खिलाफ़ बगावत करने से रोकने के लिए भी भाग्यवाद, अन्धविश्वास और धार्मिक रूढ़ियों को बढ़ावा देता है। आज ऐसा करने में नयी तकनोलॉजी आधारित मीडिया (टीवी, इण्टरनेट आदि) का वह विशेष उपयोग कर रहा है। यानी विज्ञान के सहारे अन्धविश्वास और रूढ़ियों का विज्ञान-विरोधी घटाटोप फैलाया जा रहा है।

भारतीय समाज में ऐसा विशेष तौर पर हो रहा है, जहाँ पूँजीवाद के मद्धिम और क्रमिक विकास के चलते आम जनजीवन में पूँजीवाद पूर्व अवस्थाओं के धार्मिक मूल्यों, सामाजिक रूढ़ियों, भाग्यवाद, अन्धविश्वास आदि की प्रभावी उपस्थिति बनी रही है। यहाँ बीसवीं सदी में जनवादी मूल्यों का जो विकास हुआ, वह अति सीमित था और आज के पूँजीवादी पतनशीलता के दौर में (जिसे उदारीकरण-निजीकरण-भूमण्डलीकरण का दौर कहा जाता है), रहे-सहे जनवादी मूल्य भी सिकुड़ते-बिखरते जा रहे हैं। पूँजी की गति दोहरे प्रभाव वाली है। पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली एक ओर आम जनता को आधुनिक ढंग से जीने-रहने की चेतना दे रही है, दूसरी ओर वह स्वस्थ जनवादी मूल्यों और तर्कणा के विकास को रोक भी रही है। किसी भी समाज में शासक वर्ग की संस्कृति ही हावी और प्रभावी होती है। अतः आश्चर्य नहीं कि आम जनता भी पतनशील और गैर-जनवादी पूँजीवादी मूल्यों-मान्यताओं और पण्यपूजा की संस्कृति की शिकार है। साथ ही, पूँजीपति वर्ग, सचेत रूप से, अन्धविश्वास, भाग्यवाद और रूढ़िवाद का प्रचार-प्रसार करता है ताकि मेहनतकश जनता की वर्ग चेतना को कुण्ठित करते रहा जा सके।

आइये, अब इसी बात को आम मेहनतकशों के जीवन पर और स्त्री मज़दूरों के प्रति पुरुष-मज़दूरों के दृष्टिकोण पर लागू किया जाये। ज़्यादातर मज़दूर गाँव की पृष्ठभूमि (उजड़े हुए या उजड़ते हुए किसान) से आते हैं। इनमें सवर्ण, मध्य जातियों और दलित जातियों – तीनों पृष्ठभूमि के लोग हैं। एक ओर इन मज़दूरों में औरतों को 'पैरों की जूती' और घरेलू दासी समझने की मानसिकता अभी भी बनी हुई है। दूसरी ओर, शहरों में जो स्त्री-विरोधी आधुनिक बर्बरता अनेक रूपों में फली-फूली है, उससे पुरुष मज़दूर भी गहराई से प्रभावित हैं। लोकगीतों के फूहड़ आधुनिक संस्करणों से लेकर पोर्न फिल्मों की सी.डी. और मोबाइलों में पोर्न क्लिपिंग्स आदि के ज़रिए बहुत सारे पुरुष मज़दूर जो सांस्कृतिक नशे की खुराक लेते रहते हैं, वह उन्हें मानसिक रुग्णता और स्त्री-विरोधी मानसिकता का शिकार बनाता रहता है। इसकी अभिव्यक्ति उनके पारिवारिक और सामाजिक जीवन में आती रहती है। पिछड़ी वर्ग चेतना वाले ज़्यादातर मज़दूर अपने घरों में स्त्रियों को घरेलू हिंसा का शिकार बनाते हैं, और कार्यस्थलों पर स्त्री मज़दूरों के प्रति यौन उत्पीड़न का रवैया (अश्लील बातें व इशारे, छेड़छाड़ आदि) अपनाते हैं। यह एक कड़वी सच्चाई है कि मालिकों-

मैनेजरों-सुपरवाइज़रों के खुले एवं परोक्ष यौन-उत्पीड़न के अतिरिक्त साथ में काम करने वाले पुरुष मज़दूरों के भी ऐसे रवैये का सामना स्त्री-मज़दूरों को करना पड़ता है। जो मज़दूर कार्यस्थलों पर स्त्री-विरोधी रवैया अपनाते हैं वही उस घटिया परिवेश से अपने घर की स्त्रियों को सुरक्षित बचाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि उनकी पत्नियाँ या बेटियाँ घरों में ही रहकर परिवार सँभालें और साथ ही पीस रेट पर काम करके कुछ कमाई भी कर लिया करें (क्योंकि एक की मज़दूरी की आमदनी से जैसे-तैसे घर चला पाना भी काफी मुश्किल होता है)। ज़्यादातर मज़दूर स्त्रियाँ भी अपने पुराने संस्कारों व पिछड़ेपन के चलते घरेलू गुलामी के साथ-साथ पूँजीपतियों के मनमाने अतिशोषण का शिकार होने के लिए तैयार हो जाती हैं। जो स्त्रियाँ (ज़्यादातर ठेका, दिहाड़ी या कैजुअल मज़दूर के रूप में या पीस रेट पर) कारखानों-वर्कशॉपों में काम करने जाती हैं, उन्हें प्रायः स्वास्थ्य पर भीषण प्रभाव डालने वाले काम (पेशागत स्वास्थ्य की समस्या पुरुषों के मुकाबले स्त्रियों में अधिक होती है) करने होते हैं और मज़दूरी पुरुष मज़दूरों के मुकाबले कम होती है। अपनी पिछड़ी चेतना के चलते और छोटे-छोटे कारखानों-वर्कशॉपों में बिखरे होने के चलते वे अपनी माँगों को लेकर संगठित आवाज़ नहीं उठा पातीं और पुरुष मज़दूरों की द्वेष-भावना के चलते भी उनकी लड़ाई संगठित नहीं हो पाती। इससे न केवल स्त्री-मज़दूरों का पक्ष कमज़ोर होता है, बल्कि पूरे मज़दूर आन्दोलन का पक्ष भी कमज़ोर होता है। आधी आबादी की पहलकदमी और भागीदारी के बिना कोई भी आर्थिक- राजनीतिक संघर्ष मज़बूत नहीं हो सकता। मज़दूर आन्दोलन और सर्वहारा क्रान्तियों के इतिहास के तथ्य इस सच्चाई की पुरज़ोर तस्दीक करते हैं।

बहुतेरे मज़दूर ऐसे भी हैं जिन्होंने अपनी पत्नियों को गाँव में छोड़ रखा है जहाँ उनकी पत्नियाँ संयुक्त परिवार की पीस डालने वाली घरेलू गुलामी में जी रही हैं, या फिर अपने पारिवारिक मालिकाने की ज़मीन या बटाई पर ली गयी ज़मीन पर हाड़ गला रही हैं। ये वे मज़दूर हैं, जिनकी वर्ग चेतना में अभी भी छोटा मालिक किसान होने के संस्कार और खुशहाल मालिक किसान बन जाने के भ्रम मौजूद हैं। इस भ्रम की क्रीमत सबसे अधिक उनके घरों की औरतें चुकाती हैं। यह जगज़ाहिर सी बात है कि शहरों की अपेक्षा गाँवों में औरतों की घरेलू गुलामी ज़्यादा उबाऊ, नीरस, दमघोटू और हाड़तोड़ होती है, सामाजिक परिवेश में पुरुष स्वामित्व के बर्बर पुरातन रूप (बर्बर नये रूपों के साथ-साथ)

ज़्यादा हावी रहते हैं, ज़्यादा कठिन कृषि कार्यों में (रोपाई-बुवाई-निराई आदि) स्त्रियाँ खटती हैं और मज़दूरी भी उन्हें पुरुषों के मुकाबले काफी कम मिलती हैं।

इन सारी बातों का मूल निचोड़ यह है कि समूचे मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए, ज़रूरी है कि सामाजिक गतिविधियों और आर्थिक राजनीतिक संघर्षों में उस आधी आबादी की भागीदारी को ज़्यादा से ज़्यादा बढ़ाया जाये जो घरेलू गुलामी के बन्धनों में जकड़ी हुई है। पुरुष मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा का यह एक बुनियादी मुद्दा है कि शेष आधी आबादी को सच्चे मायने में बराबरी का दर्जा देकर पूँजी के विरुद्ध संघर्ष में भागीदार बनाये बिना मज़दूर मुक्ति का लक्ष्य कभी भी हासिल नहीं किया जा सकता। इसके लिए सतत् राजनीतिक शिक्षा और प्रचार के साथ ही सभी पुरुष-स्वामित्ववादी मूल्यों-मान्यताओं-संस्कृति के विरुद्ध एक निरन्तर अभियान चलाना होगा। साथ ही स्त्री मज़दूरों को भी अपनी गुलाम मानसिकता, संस्कार और रूढ़ियों से छुटकारा पाना होगा। न सिर्फ सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में सर्वहारा घरों की स्त्रियों को ज़्यादा से ज़्यादा संख्या में प्रवेश करने के लिए प्रेरित करना होगा, बल्कि मज़दूरों के रोजमर्रा के संघर्षों और दूरगामी राजनीतिक संघर्ष की प्रक्रिया (पूँजी की सत्ता का ध्वंस करके मज़दूर सत्ता की स्थापना का संघर्ष) में भी उन्हें अपनी भागीदारी बढ़ानी होगी। स्त्री मज़दूर अपने अधिकारों के लिए भी सफलतापूर्वक तभी लड़ सकती हैं जब समूचे मज़दूर वर्ग के अधिकारों की लड़ाई में भी उसकी भागीदारी हो, यानी उसकी माँग समूचे मज़दूर वर्ग के माँगपत्रक का एक भाग हो। निश्चय ही सामाजिक उत्पादन के साथ ही सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों में अपनी भागीदारी बढ़ाने के लिए स्त्री मज़दूरों को अपने रूढ़िगत संस्कारों और “घरेलूपन” की मानसिकता के साथ-साथ अपने घरों और समाज में पुरुष मज़दूरों की मर्दवादी धक्कड़शाही एवं चौधराहट की मानसिकता से जूझना होगा। लेकिन यहाँ सवाल मर्द बनाम औरत का नहीं, बल्कि सारे मज़दूरों की मुक्ति का है। स्त्रियों की मुक्ति के बिना मज़दूर मुक्ति सम्भव नहीं और मज़दूर मुक्ति के बिना स्त्रियों की मुक्ति सम्भव नहीं। इसलिए, बुनियादी सवाल यहाँ यह है कि पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली, समाज व्यवस्था और राज्यतंत्र का हित साधने वाली पुरुष-आधिपत्य की संस्कृति के विरुद्ध संघर्ष करके स्त्री और पुरुष – दोनों ही समुदायों के सर्वहारा की जुझारू वर्ग चेतना किस प्रकार जागृत और संगठित की जाये।

“...उसके शरीर को कुछ विशेष काम करने पड़ते हैं, इसलिए मेहनत करने वाली स्त्री को पूँजीवादी शोषण से बचाने के लिए विशेष व्यवस्था की ज़रूरत है, यह चीज़ मुझे सर्वथा स्पष्ट लगती है। वे अंग्रेज़ स्त्रियाँ जो नारी जाति के इस औपचारिक अधिकार के लिए लड़ रही थीं कि पूँजीपतियों द्वारा शोषण कराने की उन्हें भी उतनी ही छूट मिल जाये जितनी कि पुरुषों को प्राप्त है, उनकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस बात में दिलचस्पी थी कि पूँजीपति वर्ग को स्त्रियों और पुरुषों का समान शोषण करने की सुविधा हासिल हो जाये। ... मेरा विश्वास है कि स्त्रियों और पुरुषों के बीच वास्तविक समानता केवल तभी स्थापित हो सकती है जबकि पूँजी द्वारा किये जाने वाले दोनों के शोषण को मिटा दिया जाय और गृहस्थी के घरेलू काम-काज को एक सार्वजनिक उद्योग बना दिया जाये।”

फ्रेडरिक एंगेल्स (5 जुलाई, 1885 के आसपास गर्टूड जिलामें-शाक के नाम लिखे गये एक पत्र का अंश)

पुरुष मज़दूर अगर बहुत संकीर्ण दायरे में सोचेंगे और केवल अपने तात्कालिक आर्थिक हितों को ही देखते रहेंगे, अगर वे व्यापक से व्यापकतर स्तर पर संगठित होकर अपने आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों की हिफ़ाजत एवं विस्तार के लिए लड़ने के बारे में नहीं सोचेंगे, तो वे स्त्री मज़दूरों के साथ स्वाभाविक तौर पर प्रतिस्पर्द्धा और द्वेष की भावना महसूस करेंगे !

स्त्री मज़दूरों को अपने संघर्ष में बराबर का भागीदार बनाने की अनिवार्य आवश्यकता वे तभी महसूस करेंगे, जब उनकी वर्ग-चेतना उन्नत होगी। इस बात को गहराई से जानने के लिये हमें पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की कुछ बुनियादी चीज़ों को समझना होगा।

पूँजी एक ऐसा मूल्य होती है जो अपने आप में अतिरिक्त मूल्य जोड़ते हुए लगातार मूल्य-संवर्धन करती चलती है। यह अतिरिक्त मूल्य कहाँ से आता है? – यह मज़दूर वर्ग के शोषण से आता है। पूँजीवादी समाज में हर उत्पादन, उत्पादन के सभी साधन और मानवीय इस्तेमाल में आने वाली हर चीज़ एक माल होती है। माल के दो पहलू होते हैं – उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य। यानी विनिमय या ख़रीद- फ़रोख़्त उसी चीज़ का हो सकता है जिसका उपयोग

मूल्य हो। यानी हर माल का कोई न कोई उपयोग होता है। माल की दूसरी खासियत यह है कि उसके उत्पादन में श्रम लगता है। माल के उत्पादन में लगा हुआ यह श्रम ही उसमें मूल्य पैदा करता है। बाज़ार में जब एक चीज़ से दूसरी चीज़ का विनिमय होता है तो उनके उत्पादन में लगी हुई श्रम की बराबर माला के आधार पर होता है।

अब सवाल है कि श्रम की माला को मापा कैसे जाये? किसी खास प्रकार के कच्चे माल पर खास औज़ार और खास हुनर का इस्तेमाल करके खास उपयोगिता की वस्तु बनायी जाती है। श्रम का यह पहलू मूर्त श्रम कहलाता है। अलग-अलग मालों के उत्पादन में अलग-अलग मूर्त श्रम लगता है (जो उसका उपयोग मूल्य तय करता है), पर एक बात समान है कि हर माल के उत्पादन में लगता मानवीय श्रम ही है। समरूपता का यह पहलू अमूर्त श्रम कहलाता है। इसी के द्वारा माल का मूल्य तय होता है। किसी माल के उत्पादन में लगे हुए श्रम की माला उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम के काल से नापी जाती है। अब व्यक्तिगत कौशल, चुस्ती, औज़ार, परिस्थिति आदि के हिसाब से एक ही माल के उत्पादन में अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग समय लगायेंगे अतः मालों का मूल्य व्यक्तिगत श्रमकाल से नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम से तय होता है। उत्पादन की मौजूदा सामान्य स्थितियों में उस समय की औसत कुशलता और गहनता के द्वारा किसी उपयोग मूल्य के उत्पादन में लगे श्रमकाल को सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम कहते हैं।

अब समझने की बात यह है कि माल-उत्पादन और विनिमय की इस पूरी प्रक्रिया में मुनाफ़ा कहाँ से आता है? अतिरिक्त मूल्य पैदा कैसे होता है?

किसी भी समाज में, श्रमशक्ति एक मानवीय कार्य है। यह मनुष्य के शारीरिक-मानसिक यत्नों का कुल योग है। यही उत्पादन का मुख्य उपादान है। पूँजीवाद के जन्म के साथ ही, छोटे माल-उत्पादकों की तबाही और आदिम पूँजी-संचय के चलते एक ऐसा सामाजिक वर्ग अस्तित्व में आता है जिसके पास उत्पादन या आजीविका का कोई साधन नहीं होता। उसे जीवित रहने के लिए अपनी श्रमशक्ति बेचनी ज़रूरी होती है। इस श्रमशक्ति को वह पूँजीपति खरीदता है जो बड़े पैमाने पर उत्पादन के साधनों का मालिक होता है। वह अपनी ज़रूरत के लिए नहीं, बल्कि बेचने के लिए पैदा करता है। इसतरह पूँजीवादी समाज में श्रमशक्ति एक माल बन जाती है। दूसरे मालों की तरह

उसका भी मूल्य और उपयोग होता है। दूसरे मालों की ही तरह इसके उत्पादन और पुनरुत्पादन में लगने वाले सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के परिमाण से ही श्रमशक्ति का मूल्य तय होता है। मज़दूर के श्रम करने की क्षमता बनाये रखने के लिए खाना, कपड़ा, आवास आदि बुनियादी चीज़ें ज़रूरी हैं। बूढ़े और मरने वाले मज़दूरों की जगह नये मज़दूर आयें, इसके लिए मज़दूरों के बच्चा पैदा करने, परिवार चलाने की भी ज़रूरत होगी। तात्पर्य यह कि श्रमशक्ति के उत्पादन और पुनरुत्पादन के लिए मज़दूर के घर-परिवार को चलाने भर का खर्च ज़रूरी होगा। यही मज़दूर की श्रमशक्ति का मूल्य होता है।

जहाँ तक श्रमशक्ति के उपयोग मूल्य की बात है, इस मायने में यह सभी दूसरे मालों से भिन्न होता है। अनाज या कपड़ा जैसे किसी माल के उपयोग मूल्य का उपभोग करने से कोई नया उपयोग मूल्य सृजित नहीं होता, पर श्रमशक्ति एक ऐसा माल है, जिसका उपयोग एक नया मूल्य पैदा करता है और इससे भी अहम बात यह है कि स्वयं श्रमशक्ति के मूल्य से भी अधिक मूल्य पैदा करता है। यानी “श्रमशक्ति सिर्फ मूल्य का ही स्रोत नहीं, बल्कि उसमें निहित मूल्य से भी अधिक मूल्य का स्रोत है” (मार्क्स: ‘पूँजी’, खण्ड-1) और, “पूँजीपति जब श्रमशक्ति को खरीदता है तो उसकी दिलचस्पी इस बढ़े हुए मूल्य में ही होती है” (वही)। श्रमशक्ति के मूल्य और उसके द्वारा सृजित मूल्य के अन्तर को ही अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है।

जैसे, पूँजीपति मज़दूर की एक दिन की श्रमशक्ति खरीदता है। मज़दूर उस श्रमशक्ति का मूल्य, यानी अपनी दिनभर की उजरत या पगार के बराबर मूल्य का उत्पादन चार घण्टे या उससे भी कम में कर लेता है। लेकिन पूँजीपति उससे आठ घण्टे या उससे भी अधिक काम करवाता है। यानी मज़दूर जितना पैदा करता है, उसके मूल्य बराबर उजरत उसे नहीं दी जाती, बल्कि उसे तो दिनभर महज उत्पादन करने लायक बने रहने तक की ही उजरत दी जाती है। इन दोनों के बीच का अन्तर ही अतिरिक्त मूल्य है जिसे पूँजीपति हड़प जाता है। एक कार्यदिवस के श्रम काल का जो हिस्सा मज़दूर की जीविका के लिए आवश्यक होता है, वह आवश्यक श्रमकाल होता है और जिस हिस्से के दौरान पूँजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है, उसे अतिरिक्त श्रमकाल कहा जाता है। अतिरिक्त श्रमकाल और आवश्यक श्रमकाल का अनुपात ही अतिरिक्त मूल्य की दर होता है, जो मज़दूरों के शोषण की मात्रा प्रदर्शित करती है।

अतिरिक्त मूल्य की दर बढ़ाने के लिए पूँजीपति एक रास्ता यह अपनाता है कि श्रमकाल को ही बढ़ा देता है। इस तरह हासिल किया गया अतिरिक्त मूल्य शुद्ध अतिरिक्त मूल्य कहलाता है। शोषण बढ़ाने के लिए श्रमकाल बढ़ा देने का तरीका आसान तो है, पर इसकी एक सीमा है। अतः पूँजीपति एक दूसरा शातिराना तरीका अपनाता है। वह आवश्यक श्रमकाल को कम कर देता है। इससे सापेक्षिक श्रम काल बढ़ जाता है और पूँजीपति सापेक्षिक अतिरिक्त मूल्य हासिल कर लेता है। पूँजीपति जब नयी मशीनों और नयी तकनीक का इस्तेमाल करता है तो सामान्य श्रम उत्पादकता बहुत बढ़ जाती है और मज़दूर और उसके आश्रितों के भरण-पोषण के लिए ज़रूरी मूल्य का उत्पादन बहुत जल्दी हो जाता है। आवश्यक श्रमकाल घट जाता है यानी श्रम के पुनरुत्पादन के लिए ज़रूरी साधनों का मूल्य कम हो जाता है। श्रम उत्पादकता बढ़ाने के साथ ही श्रम-सघनता बढ़ाकर भी (यानी मशीन की रफ़्तार बढ़ाकर, श्रम का कोटा बढ़ाकर और कुल कार्यदिवस कम किये बिना मज़दूरों की संख्या घटाकर) पूँजीपति आवश्यक श्रमकाल को घटाने का काम करता है। इसके अतिरिक्त अक्सर मज़दूरी कम करके, तरह-तरह के जुर्माने लगाकर और नौकरशाही को मिलाकर, मज़दूरों को मिलने वाली क़ानूनी सुविधाओं में भी कटौती करके पूँजीपति मज़दूर की मज़दूरी उसकी श्रमशक्ति से भी कम कर देता है जिससे मज़दूर परिवारों का जीना मुहाल हो जाता है। कारख़ाना उत्पादन में मशीनें जैसे-जैसे उन्नत होती जाती हैं, स्वचालन जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे मज़दूर के शारीरिक बल की ज़रूरत कम होती जाती है और औरतों तथा बच्चों को काम पर लगाना आसान होता जाता है। औरतों और बच्चों का श्रम अपेक्षाकृत काफ़ी सस्ता होता है। इसलिए पुरुष मज़दूरों पर छँटनी की तलवार लटकने लगती है। श्रम-विभाजन और मशीनों का प्रयोग जितना बढ़ता जाता है, उतनी ही मज़दूरों की बेरोजगारी-अर्द्धबेरोजगारी भी बढ़ती है और श्रम बाज़ार में औरतों की उपस्थिति भी बढ़ती जाती है। इससे मज़दूरों में होड़ बढ़ती जाती है और मज़दूरी घटती जाती है।

देखें कि इस बात को मार्क्स ने कैसे लिखा है: मशीन के कारण जो आदमी नौकरी से निकाल दिया गया है, उसकी जगह पर कारख़ाना मालिक सम्भवतः तीन बच्चों और एक औरत को नौकर रख लेता है! क्या उस मज़दूर की मज़दूरी का इतना होना ज़रूरी नहीं था कि उससे तीन बच्चों और एक औरत का भरण-पोषण हो सके? क्या न्यूनतम मज़दूरी का इतना होना ज़रूरी नहीं था कि उससे

वंश की रक्षा और वृद्धि हो सके? तब फिर पूँजीपतियों के प्रिय फ़िक्रों से क्या सिद्ध होता है? इससे अधिक और कुछ नहीं कि एक मज़दूर परिवार के जीवन निर्वाह के लिए अब पहले से चौगुने मज़दूरों को अपना जीवन खपाना होगा।” (मार्क्स: ‘उजरती श्रम और पूँजी’, मास्को, 1985, पृ- 48-49)

“जिस हद तक मशीनें मांसपेशियों की शक्ति को अनावश्यक बना देती हैं, उस हद तक मशीनें मांसपेशियों की बहुत थोड़ी शक्ति रखने वाले मज़दूरों को और उन मज़दूरों को नौकरी देने का साधन बन जाती हैं, जिनका शारीरिक विकास तो अपूर्ण है पर जिनके अवयव और भी लोचदार हैं। इसलिए मशीनों का इस्तेमाल करने वाले पूँजीपतियों को सबसे पहले स्त्रियों और बच्चों के श्रम की तलाश होती थी। अतएव श्रम तथा श्रमजीवियों का स्थान लेने के लिए जिस विराट यंत्र का आविष्कार हुआ था, वह तुरंत ही मज़दूर के परिवार के प्रत्येक सदस्य को, बिना किसी आयुभेद या लिंग-भेद के, पूँजी के प्रत्यक्ष दासों में भरती करके मज़दूरी करने वालों की संख्या को बढ़ाने का साधन बन गया। उसके बाद से बच्चों को पूँजीपतियों के लिए जो अनिवार्य काम करना पड़ता था, उसने न केवल बच्चों के खेलकूद की जगह ले ली, बल्कि परिवार की आवश्यकताओं के लिए घर पर रहकर किये जाने वाले कुछ सीमित ढंग के स्वतंत्र श्रम की भी जगह ले ली।

“श्रम-शक्ति का मूल्य केवल इसी बात से निर्धारित नहीं होता था कि अकेले वयस्क मज़दूर को जीवित रहने के लिए कितना श्रम काल आवश्यक है, बल्कि इस बात से भी कि मज़दूर के परिवार को जीवित रखने के लिए कितना श्रमकाल आवश्यक होता है। मशीनें उसके परिवार के प्रत्येक सदस्य को श्रम की मण्डी में लाकर पटक देती हैं और इसतरह मज़दूर की श्रमशक्ति के मूल्य को उसके पूरे परिवार पर फैला देती हैं। इस प्रकार मशीनें उसकी श्रमशक्ति के मूल्य को कम कर देती हैं। यह मुमकिन है कि पहले परिवार के मुखिया की श्रमशक्ति को खरीदने में जितना खर्च होता था, अब चार सदस्यों के पूरे परिवार की श्रमशक्ति को खरीदने में उससे कुछ अधिक खर्चा हो; लेकिन उसके एवज़ में एक दिन के श्रम की जगह पर चार दिन का श्रम मिल जाता है, और चार दिन का बेशी श्रम एक दिन के बेशी श्रम से जितना अधिक होता है, उसी अनुपात में इन चार दिनों के श्रम का दाम गिर जाता है। परिवार को जीवित रखने के लिए अब चार व्यक्तियों को न केवल श्रम, बल्कि पूँजीपति के लिए बेशी श्रम भी करना पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मशीनें उस

मानव-सामग्री में, जो पूँजी की शोषक शक्ति का प्रधान लक्ष्य होती है, वृद्धि करने के साथ-साथ शोषण की मात्रा में भी वृद्धि कर देती है।” (मार्क्स: पूँजी, खण्ड-एक, पृ. 421-422, मास्को, 1987)

एक मज़दूर की औरत जबतक चूल्हे-चौकठ और बच्चे पालने का काम करती है, तबतक वह विनिमय के लिए माल-उत्पादन की सामाजिक कार्रवाई में भागीदार नहीं होती। अतः तबतक वह अतिरिक्त मूल्य भी नहीं पैदा करती। यानी हाड़तोड़, नीरस घरेलू श्रम करते हुए वह उत्पीड़न और घरेलू दासता की शिकार तो होती है पर राजनीतिक अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसे शोषित नहीं कहा जा सकता। पूँजीवादी शोषण की शिकार वह तब होती है जब वह सामाजिक उत्पादन के दायरे में प्रवेश करती है। जबतक औरत घरेलू गुलामी की शिकार होती है, तबतक उसके सोच-विचार का दायरा अत्यन्त संकुचित और दकियानूस होता है। अपनी गुलाम मानसिकता के चलते वह पुरुष की चरण-सेविका भी बनी रहती है और यह भी सोचती है कि चूँकि कमाकर परिवार का पेट भरना मर्द की ही ज़िम्मेदारी है, अतः वह नौकरी के अतिरिक्त और कुछ भी न करे, नौकरी पर खतरा आने वाला कोई काम (ट्रेडयूनियन, पार्टी कार्य आदि) न करे और ओवरटाइम खटकर भी कुछ ज्यादा पैसा घर लाये। जब वह सार्वजनिक उत्पादन की दुनिया में प्रवेश करती है तो उसके सोचने का दायरा फैल जाता है, वह साहसी हो जाती है और अपने हक के लिए सामूहिक एकजुटता की ज़रूरत समझने लगती है। इसीलिए फ्रेडरिक एंगेल्स ने कहा था: “स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उत्पादन में प्रवेश करे और इसलिए यह आवश्यक है कि समाज की आर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाये।” (एंगेल्स: परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति)

लेनिन ने भी नीरस, उबाऊ और अमानवीय घरेलू गुलामी के खिलाफ़ अनेकों स्थान पर लिखा है। समाजवाद के निर्माण के लिए वे इस बात को अनिवार्य मानते थे कि बड़े पैमाने पर किण्डरगार्टन, शिशुशाला, सामूहिक भोजनालय आदि का निर्माण करके स्त्रियों को घरेलू कामों से छुटकारा दिलाकर सामाजिक उत्पादन और अन्य सार्वजनिक गतिविधियों में भागीदारी का ज्यादा से ज्यादा अवसर दिया जाये। पूँजीवाद वैयक्तिक परिवार के आर्थिक इकाई होने के स्वरूप को, और फलतः घरेलू गुलामी को पूरी तरह नष्ट कदापि नहीं कर सकता। स्त्रियों की स्थिति यदि उत्पादन और अन्य सामाजिक क्षेत्रों में पुरुषों

के बराबरी पर हो तो पूँजीवाद न तो स्त्रियों का सस्ता श्रम खरीद पायेगा, न ही घरेलू स्त्रियों की पिछड़ी चेतना और स्त्री बनाम पुरुष अन्तरविरोध का लाभ उठाकर अपनी स्थिति मजबूत बना पायेगा। अतः एक ओर तो वह परिवार की घरेलू गुलामी बनाये रखना चाहता है, दूसरी ओर पूँजीवादी उत्पादन की स्वतंत्र गति से लगातार बढ़ता मज़दूरों का शोषण और असहनीय जीवन मज़दूरों के परिवार के स्त्रियों को भी श्रम बाज़ार में उतरने को बाध्य कर देता है।

मार्क्स लिखते हैं: “...पूँजीवादी व्यवस्था में पुराने पारिवारिक बंधनों का टूटना चाहे जितना भयंकर और घृणित क्यों न प्रतीत होता हो, परंतु आधुनिक उद्योग स्त्रियों, लड़के-लड़कियों और बच्चे-बच्चियों को घरेलू क्षेत्र के बाहर उत्पादन की क्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका देकर परिवार के और नारी तथा पुरुष के सम्बन्धों के एक अधिक ऊँचे रूप के लिए एक नया आर्थिक आधार तैयार कर देता है।” (पूँजी, खण्ड-एक, पृ. 521)। आगे मार्क्स लिखते हैं कि यदि काम करने वाले सामूहिक दल में औरत-मर्द दोनों शामिल हों तो उपयुक्त परिस्थितियाँ होने पर यह मानवीय विकास का आधार बन जायेगा। पूँजीवाद स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन में उतारकर एक ओर तो वस्तुगत रूप से प्रगतिशील काम करता है, लेकिन दूसरी ओर उजरती गुलामी की व्यवस्था के चलते यह समाज में दुराचार और दासता के ज़हर फैलाने का एक कारण भी बनता है। इस दुराचार और दासता का सामना स्त्री मज़दूरों को ही करना होता है, लेकिन मार्क्स, एंगेल्स या लेनिन इसका उपाय यह कतई नहीं बताते कि पूँजीवादी समाज में स्त्रियाँ सार्वजनिक उत्पादन में प्रवेश करने के बजाय घरों में ही कैद रहें। पूँजीवाद के अन्तर्गत भी सामाजिक उत्पादन में औरत-मर्द दोनों की भागीदारी उनके व्यक्तित्व, उनके सम्बन्धों और उनके परिवार को उच्चतर मानवीय रूप देता है। दूसरे, पूँजीवादी शोषण की शिकार स्त्रियों को ही पूँजीवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए संगठित होने की चेतना दी जा सकती है। सर्वहारा आबादी की इस आधे हिस्से की सामाजिक पहलकदमी और सक्रियता के बिना समाजवाद के लिए संघर्ष को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता।

ऊपर हम चर्चा कर आये हैं कि पूँजीपति ज्यादा से ज्यादा अतिरिक्त मूल्य निचोड़ने के लिए और आपसी प्रतियोगिता में आगे बढ़ने के लिए लगातार नयी मशीनें और नयी तकनोलॉजी लाता जाता है। यानी मशीनी उपकरणों और कच्चे माल पर वह ज्यादा से ज्यादा पूँजी लगाता जाता है और कम से कम मज़दूर लगाकर ज्यादा से ज्यादा काम लेता है। यानी पूँजी की अवयवी संघटन

में स्थिर पूँजी (मशीन व कच्चे माल की खरीद में लगी पूँजी) का अनुपात परिवर्तनशील पूँजी (श्रमशक्ति की खरीद में लगी पूँजी) के मुकाबले लगातार बढ़ता जाता है। इससे श्रमशक्ति की माँग में सापेक्षिक कमी आ जाती है। छँटनी और बेरोज़गारी बढ़ जाती है।

पूँजी-संचय आगे बढ़ने के साथ ही श्रमशक्ति की आपूर्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है। मशीनें, स्त्रियों और बच्चों को भी उजरती मज़दूरों की कतार में शामिल कर लेती हैं। साथ ही पूँजी-संचय की प्रक्रिया छोटे किसानों और अन्य छोटे माल-उत्पादकों को भी दिवालिया बनाकर अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए मजबूर कर देती है। नतीजतन, पूँजीवादी समाज में सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी बेरोज़गारों-अर्धबेरोज़गारों की भारी जमात के रूप में मौजूद रहती है। यह आबादी वास्तव में “फालतू” नहीं होती क्योंकि उत्पादन के साधनों पर यदि समाज का नियंत्रण हो और उत्पादन का लक्ष्य यदि मुनाफ़ा न होकर सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति और सामाजिक प्रगति हो तो समस्त उत्पादक आबादी लगातार उत्पादक कार्यवाई करके समाज को प्रगति की नयी चोटियों तक पहुँचाती रहेगी। पूँजीवादी समाज में पूँजी-संचय की प्रक्रिया सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी पैदा करती है। यह सापेक्षिक अतिरिक्त आबादी तीन प्रकार की होती है: पहली, वह सचल अतिरिक्त आबादी होती है, जो औद्योगिक केन्द्रों में इस या उस कारख़ाने से बाहर किये जाने के बाद इधर-उधर भटकती रहती है और जहाँ जो भी काम मिल जाये, करने को तैयार रहती है। दूसरी, वह छिपी हुई अतिरिक्त आबादी होती है, जो कृषि के पूँजीवादीकरण के बाद खेती से उजड़ तो जाती है, पर विस्थापित होकर शहर आने के बजाय गाँव में ही ज़मीन के छोटे से टुकड़े से चिपकी रहती है, कुछ इधर-उधर काम करके पेट पालती है और कभी-कभार शहर आकर भी मज़दूरी कर लेती है। तीसरी, स्थिर अतिरिक्त आबादी होती है जो घरेलू काम-काज करती है और कभी-कभार कुछ इधर-उधर के छोटे-मोटे काम कर लेती है (जैसे कि पीस रेट पर घर लाकर भी कुछ काम कर लेती है)। इस आबादी का कोई स्थायी पेशा नहीं होता। मज़दूर परिवारों की औरतों का बड़ा हिस्सा इसी श्रेणी में आता है। सभी चूल्हे-चौकठ की गुलामी करती हैं। परिवार चलाना दूभर हो जाता है तो पीस रेट पर घर लाकर या कारख़ाने जाकर कोई काम कर लेती हैं, कभी दिहाड़ी मज़दूरी कर लेती हैं।

यह “फालतू” आबादी पूँजी-संचय की प्रक्रिया का नतीजा होती है और

फिर इन्हें ही पूँजी-संचय की प्रक्रिया का एक औजार बना दिया जाता है। बेरोज़गारों की भारी आबादी की मौजूदगी को “ट्रम्पकार्ड” की तरह इस्तेमाल करते हुए कारखानेदार अपने मज़दूरों को धमकाते हैं और उनकी मज़दूरी उस हद तक कम कर देते हैं कि उनकी न्यूनतम ज़रूरतें भी पूरी नहीं हो पातीं और पूँजीवादी क़ानून मज़दूरों को जो हक़ एवं सहुलियतें देते हैं, उन्हें भी छीन लेते हैं। तंग आकर मज़दूर यदि हड़ताल पर जाते हैं तो बाहर जो बेरोज़गारों की विशाल “औद्योगिक रिज़र्व फ़ौज” मौजूद रहती है, उनकी मजबूरी एवं पिछड़ी वर्गचेतना का लाभ उठाकर उन्हें ‘स्ट्राइकब्रेकर’ के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है।

इस प्रकार पूँजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को ही दूसरे हिस्से के खिलाफ़ खड़ा कर देता है, वर्ग एकजुटता को तोड़ देता है और यही उसका ब्रह्मास्त्र होता है। इस ब्रह्मास्त्र का मुकाबला बुर्जुआ और अर्थवादी ट्रेडयूनियनों के शिखण्डी कर ही नहीं सकते। मज़दूरों की लड़ाई को वे केवल आर्थिक लड़ाई तक सीमित रखते हैं, (उन्हीं के चन्दे से उनका धंधा चलता है) और संकीर्ण आर्थिक दायरे में सोचते हुए हड़ताली मज़दूर बाहर के बेरोज़गार मज़दूरों को अपना दुश्मन मान बैठते हैं। जो ट्रेडयूनियन नेतृत्व होता है, वह कारखानों के बाहर सड़कों-बस्तियों में भटकते बेरोज़गार या अर्द्ध-बेरोज़गार मज़दूरों को शिक्षित-संगठित करके पूँजी के खिलाफ़ वर्गीय एकजुटता की शिक्षा देने की ज़रूरत ही नहीं समझतौ (इसमें उन्हें अपना कोई फ़ायदा भी तो नहीं दीखता!)। जो हड़ताली मज़दूर होते हैं, प्रायः तो वे अपने ही कारखाने के ठेका मज़दूरों या अस्थायी मज़दूरों को भी साथ लेने की कोशिश नहीं करते। वे उन्हें अपने लिए सम्भावित प्रतिस्पर्द्धी और खतरा के रूप में देखते हैं।

जो स्थिर “अतिरिक्त आबादी”, यानी स्त्रियों की आबादी है, उसकी दुर्गति सबसे अधिक होती है। एक की कमाई से परिवार चलाना असम्भव होने पर जब वे श्रम बाज़ार में उतरती हैं तो उन्हें पुरुषों से कम मज़दूरी पर ज्यादा कठिन काम दिये जाते हैं, जिनमें मांसपेशियों की ताकत भले कम लगे पर एकाग्रता एवं एकरसता की दृष्टि से वे काफी कठिन होते हैं और स्वास्थ्य पर सर्वाधिक नुकसानदेह असर डालते हैं। पुरुष मज़दूर उन्हें अपने प्रतिस्पर्द्धी के रूप में देखते हैं और उनकी किसी भी माँग पर प्रायः साथ नहीं आते। “घर की दासी” और “यौन गुलाम” को बाहर अपने बाजू में काम करते देख उनके अन्दर का “मर्द” वन्य पशु की तरह जाग उठता है और साथी स्त्री मज़दूरों

को प्रायः वे भी (मालिक-मैनेजर-सुपरवाइज़र तो करते ही हैं) भट्टे अश्लील फिकरों-इशारों का शिकार बनाते रहते हैं।

और फिर इन्हीं में से एक पुरुष मज़दूर जब अपने घर जाता है तो अपनी बीवी और बेटा को कारख़ाने के गन्दे माहौल से बचाने के लिए भरसक घर में ही पीसरेट पर काम करने के लिए प्रेरित करता है। इससे दो चीज़ें होती हैं। एक तो परिवार में चूल्हे-चौकठ, बाल-बच्चे का सारा काम औरत के ही सिर पड़ा रहता है (वैसे ज्यादातर कारख़ाने जाने वाली औरतों को भी घर का पूरा काम-काज स्वयं ही करना पड़ता है), दूसरे, घर में कुछ अतिरिक्त कमाई आ जाती है। एक वर्ग चेतनाहीन पुरुष मज़दूर अपनी स्त्री की श्रमशक्ति की कीमत और पीस रेट पर काम करने के चलते सभी श्रम अधिकारों से वंचित होने की उसकी स्थिति के बारे में नहीं सोचता। वह यह भी नहीं सोच पाता कि उसके घर की स्त्री जब घर से बाहर निकलकर सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में उतरेगी तो अपने जैसी स्त्री मज़दूरों के साथ मिलकर अपने हक़ों के लिए लड़ेगी और समूचे मज़दूर वर्ग के साथ मिलकर सभी वर्गीय हक़ों के लिए लड़ते हुए मज़दूर संघर्ष की ताक़त को दूनी कर देगी।

जो अर्थवादी-सुधारवादी चवन्नीछाप गीदड़ ट्रेडयूनियन नेता हैं; अव्वलन तो वे व्यापक मज़दूर एकता चाहेंगे ही क्यों? यह उनके हित के खिलाफ़ है! दूसरे, उनके कलेजों में इतना दम भी नहीं होता कि अपने आसन्न आर्थिक हितों को लेकर एकदम नाक के ठीक आगे तक देखने वाली आम मज़दूर आबादी को ओजस्वी ढंग से ललकारकर उसे पूँजी के खिलाफ़ श्रम की व्यापक एकजुटता के दूरगामी परिणामों और मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन के बारे में बता सकें तथा यह समझा सकें कि सभी असंगठित (ठेका व दिहाड़ी) तथा कारख़ाना गेट के बाहर, सड़कों पर बस्तियों में, मौजूद बेरोजगार सर्वहाराओं को साथ लेकर, स्त्री मज़दूरों की आधी आबादी को साथ लेकर, अपने घरों की स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन और संघर्ष की दुनिया में उतारकर ही वे प्रभावी ढंग से संघर्ष कर सकते हैं और जीत सकते हैं। यह बात भूमण्डलीकृत पूँजीवाद के वर्तमान दौर में पहले हमेशा की अपेक्षा कई गुना अधिक लागू होती है।

यह कहना अनुचित या ग़लत नहीं होगा कि मज़दूर आन्दोलन की दुनिया में अर्थवाद का मर्दवाद से एक प्रकट-अप्रकट अपवित्र गठबंधन होता है।

पुरुष मज़दूर संकीर्ण आर्थिक हितों के दायरे से बाहर व्यापक वर्गीय मुक्ति के ऐतिहासिक प्रश्न पर सोचेगा तभी वह समाज में स्त्री मज़दूरों को प्रतिस्पर्धी नहीं बल्कि संघर्ष का सहयोद्धा मानेगा, तभी वह अपने घरों की स्त्रियों को भी न केवल सामाजिक उत्पादन में बल्कि आर्थिक-सामाजिक आन्दोलनों में उतरने के लिए प्रेरित करेगा। इस बात की चर्चा हम पहले कर चुके हैं कि यदि स्त्री और बच्चे भी काम पर जाते हैं तो उनकी मज़दूरी उनकी संयुक्त आमदनी में जुड़ जाती है और इससे पूरी श्रमशक्ति सस्ती हो जाती है। इसके बावजूद मार्क्स और एंगेल्स ने स्त्रियों के घर में रहकर सामाजिक सरोकारों से अलग-थलग पड़े रहने की जगह सामाजिक उत्पादन में उनकी भागीदारी पर बल दिया।

सामाजिक उत्पादन में भागीदारी करते हुए ही स्त्री सर्वहाराओं की आधी आबादी आर्थिक-राजनीतिक संघर्षों की भागीदार बन सकती है और मज़दूर मुक्ति के ऐतिहासिक संघर्ष की सफलता की यह एक बुनियादी गारण्टी है।

मज़दूर बिगुल, अक्टूबर, नवम्बर-दिसम्बर 2012

आम लोगों में मौजूद मर्दवादी सोच और मेहनतकश स्त्रियों की घरेलू गुलामी के खिलाफ संघर्ष के बारे में कम्युनिस्ट नज़रिया

(क्लारा ज़ेटकिन से व्ला. इ. लेनिन की लम्बी बातचीत का एक अंश)

(दुनिया की पहली समाजवादी क्रान्ति के महान नेता लेनिन ने जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी और अन्तरराष्ट्रीय स्त्री आन्दोलन की नेता क्लारा ज़ेटकिन के साथ यह बातचीत 1920 में मास्को में की थी। इस बातचीत में लेनिन ने स्त्रियों की घरेलू गुलामी और पुरुषों की पुरुष-स्वामित्ववादी मानसिकता के प्रति गहरी नफ़रत दिखायी है। उनका कहना है कि मज़दूर वर्ग के भीतर भी ये चीज़ें गहराई से जड़ जमाये हुए हैं। मेहनतकश औरतों की घरेलू गुलामी और पुरुष मज़दूरों की “पुराने दास स्वामियों जैसी” मानसिकता से संघर्ष किये बिना सर्वहारा क्रान्ति आगे डग नहीं भर सकती। मेहनतकश औरतों की आधी आबादी की लामबन्दी के बिना मज़दूर वर्ग अपनी मुक्ति की लड़ाई को कतई आगे नहीं बढ़ा सकता। लेनिन उन कम्युनिस्टों की कटु आलोचना करते हैं जो अन्दर से दकियानूस होते हैं और पुरुष-स्वामित्व के संस्कारों से मुक्त नहीं होते। वे स्त्री मज़दूरों को जागृत और संगठित करने के काम पर पर्याप्त ज़ोर न देने की प्रवृत्ति की भी कटु आलोचना करते हैं। आज से 95 वर्षों पहले अक्टूबर 1917 में मज़दूर वर्ग ने रूस में समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न की थी। मज़दूर सत्ता ने स्त्रियों को दुनिया के किसी भी पूँजीवादी जनवादी गणराज्य के मुकाबले कई गुना अधिक समानता के अवसर और अधिकार दिये। जीवन के हर क्षेत्र में सक्रियता के अवसर देने के साथ ही घरेलू दासता से छुटकारे के लिए नयी-नयी सामाजिक संस्थाएँ खड़ी की गयीं। फिर भी लेनिन का मानना था कि स्त्रियों की सच्ची-सम्पूर्ण मुक्ति के लिए समाजवाद की पूरी अवधि के दौरान पुरुष स्वामित्ववाद और पूँजीवादी अवशेषों के विरुद्ध लगातार लम्बा संघर्ष चलाना होगा। – सम्पादक)

– “...उसूलों की स्पष्ट समझदारी के साथ, और एक मज़बूत सांगठनिक आधार पर स्त्री समुदाय की लामबन्दी कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए और उनकी जीत के लिए एक महत्वपूर्ण सवाल है। लेकिन हम खुद को धोखा न दें।

हमारे राष्ट्रीय सेक्शनों में (यानी कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के अंग के तौर पर अलग-अलग देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों में -अनु.) अभी भी इस प्रश्न की सही समझदारी का अभाव है। जब कम्युनिस्ट नेतृत्व के अन्तर्गत मेहनतकश स्त्रियों का एक जनान्दोलन खड़ा करने का मुद्दा आता है तो वे एक निष्क्रिय और 'इन्तज़ार करो और देखो' जैसा रुख अपनाते हैं। उन्हें इस बात का अहसास नहीं होता कि ऐसे जनान्दोलन को विकसित करना और नेतृत्व देना सभी पार्टी गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, बल्कि सभी पार्टी कार्यों का आधा भाग है। एक स्पष्ट दिशा वाले, शक्तिशाली और व्यापक कम्युनिस्ट स्त्री आन्दोलन की ज़रूरत और क्रीमत को वे समय-समय पर स्वीकार तो करते हैं, लेकिन यह पार्टी के सतत् सरोकार और कार्यभार के रूप में उसकी स्वीकृति होने के बजाय अफ़लातूनी जुबानी जमाखर्च माल होती है।”

“स्त्रियों के बीच उद्वेलन और प्रचार के काम को, उन्हें जगाने और क्रान्तिकारी बनाने के काम को वे दूसरे प्राथमिकता पर रखते हैं और इसे सिर्फ स्त्री कम्युनिस्टों का काम समझते हैं। यदि यह काम तेज़ी से और मज़बूती से आगे नहीं बढ़ता तो उसके लिए इन्हें (यानी स्त्री कम्युनिस्टों को -अनु.) ही फटकार लगायी जाती है। यह गलत है, बुनियादी तौर पर गलत है। यह सरासर गलत है। यह औरतों की समानता को ठीक उलट देने जैसी बात है।”

“हमारे राष्ट्रीय सेक्शनों (अलग-अलग देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों -अनु.) के इस गलत दृष्टिकोण की जड़ में क्या है? (मैं यहाँ सोवियत रूस की बात नहीं कर रहा हूँ।) अन्तिम विश्लेषण में, यह स्त्रियों को और उनकी उपलब्धियों को कम करके आँकना है। हाँ, यही बात है। दुर्भाग्यवश, अपने बहुतेरे कामरेडों के बारे में अभी भी हम कह सकते हैं: ‘कम्युनिस्ट को खुरचकर देखो, एक दकियानूस सामने आ जायेगा।’ इस बात को पक्का करने के लिए आपको संवेदनशील जगहों पर – जैसे कि स्त्रियों से सम्बन्धित उसकी मानसिकता को – खुरचना होगा। क्या इसका इससे भी ज़्यादा प्रत्यक्ष प्रमाण कोई और हो सकता है कि एक पुरुष शान्तिपूर्वक एक स्त्री को उसके घरेलू काम जैसे तुच्छ, उबाऊ, पस्त कर देने वाले, समय-खपाऊ काम में, खपते हुए देखता रहता है और उसकी आत्मा को संकुचित होते हुए, उसके दिमाग को कुन्द होते हुए, उसके दिल की धड़कन को मद्धम पड़ते हुए और उसके इरादों को कमज़ोर होते हुए देखता रहता है? बेशक मैं उन बुर्जुआ महिलाओं की बात नहीं कर रहा हूँ जो अपने सभी घरेलू कामों और अपने बच्चों की देखभाल की जिम्मेदारी

नौकरों-नौकरानियों पर डाल देती हैं। मैं जो कह रहा हूँ वह स्त्रियों की विशाल बहुसंख्या पर लागू होता है जिनमें मज़दूरों की पत्नियाँ भी शामिल हैं और वे स्त्रियाँ भी शामिल हैं जो सारा दिन फैक्ट्री में खटती हैं और पैसा कमाती हैं।”

“बहुत कम पति, सर्वहारा वर्ग के पति भी इनमें शामिल हैं, यह सोचते हैं कि अगर वे इस ‘औरतों के काम’ में हाथ बँटायें, तो अपनी पत्नियों के बोझ और चिन्ताओं को कितना कम कर सकते हैं, या वे उन्हें पूरी तरह से भारमुक्त कर सकते हैं। लेकिन नहीं, यह तो ‘पति के विशेषाधिकार और शान’ के खिलाफ़ होगा। वह माँग करता है कि उसे सुकून और आराम चाहिए। औरत की घरेलू ज़िन्दगी का मतलब है एक हज़ार तुच्छ कामों में अपने स्व को नित्यप्रति कुर्बान करते रहना। उसके पति के, उसके मालिक के, पुरातन अधिकार बने रहते हैं और उन पर ध्यान नहीं जाता। वस्तुगत तौर पर, उसकी दासी अपना बदला लेती है। यह बदला छिपे रूप में भी होता है। उसका पिछड़ापन और अपने पति के क्रान्तिकारी आदर्शों की समझदारी का अभाव पुरुष की जुझारू भावना और संघर्ष के प्रति दृढ़निश्चयता को पीछे खींचने का काम करता रहता है। ये चीजें दीमक की तरह, अदृश्य रूप से, धीरे-धीरे लेकिन यकीनी तौर पर अपना काम करती रहती है। मैं मज़दूरों की ज़िन्दगी को जानता हूँ और सिर्फ़ किताबों से नहीं जानता हूँ। स्त्रियों के बीच हमारा कम्युनिस्ट काम, और आम तौर पर हमारा राजनीतिक काम, पुरुषों की बहुत अधिक शिक्षा-दीक्षा की माँग करता है। हमें पुराने दास-स्वामी के दृष्टिकोण का निर्मूलन करना होगा, पार्टी में भी और जन समुदाय के बीच भी। यह हमारे राजनीतिक कार्यभारों में से एक है, एक ऐसा कार्यभार जिसकी उतनी ही आसन्न आवश्यकता है जितनी मेहनतकश स्त्रियों के बीच पार्टी कार्य के गहरे सैद्धान्तिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण से लैस स्त्री और पुरुष कामरेडों का एक स्टाफ़ गठित करने की।”

सोवियत रूस की मौजूदा स्थितियों के बारे में मेरे (क्लारा ज़ेटकिन के -अनु.) सवाल का जवाब देते हुए लेनिन ने कहा:

“सर्वहारा अधिनायकत्व की सरकार – ज़ाहिर है कि कम्युनिस्ट पार्टी और ट्रेड यूनियनों के साथ मिलकर – स्त्रियों-पुरुषों के पिछड़े विचारों पर विजय पाने और इस प्रकार पुरानी, ग़ैरकम्युनिस्ट मानसिकता को समाप्त करने की हर मुमकिन कोशिश कर रही है। कहने की ज़रूरत नहीं कि क्रानून के सामने स्त्री और पुरुष पूर्णतः समान हैं। इस क्रानूनी समानता को प्रभावी बनाने की सच्ची

ख्याति हर दायरे में स्पष्टतः देखी जा सकती है। हम अर्थतंत्र, प्रशासन, कानून बनाने और सरकार चलाने के कामों में भागीदारी के लिए औरतों की इन्दराजी कर रहे हैं। उनके लिए सभी पाठ्यक्रमों और शैक्षिक संस्थाओं के दरवाज़े खुले हुए हैं, ताकि वे अपने पेशागत और सामाजिक प्रशिक्षण को उन्नत कर सकें। हम सामुदायिक रसोईघर, सार्वजनिक भोजनालय, लॉण्ड्री और मरम्मत की दुकानें, शिशुशालाएँ, किण्डरगार्टन, बालगृह तथा हर प्रकार के शिक्षा संस्थान संगठित कर रहे हैं। संक्षेप में, हम लोग घरेलू और शिक्षा सम्बन्धी कार्यों को व्यक्तिगत गृहस्थी के दायरे से समाज के दायरे में स्थानान्तरित करने के अपने कार्यक्रम की शर्तों को पूरा करने के लिए पर्याप्त संजीदा हैं। इस तरह औरत अपनी पुरानी घरेलू गुलामी और अपने पति पर हर तरह की निर्भरता से मुक्त हो रही है। उसे सक्षम बनाया जा रहा है कि वह समाज में अपनी क्षमताओं और अभिरुचियों के हिसाब से अपनी भूमिका पूरी तरह से निभा सके। बच्चों को घर की अपेक्षा, विकास के बेहतर अवसर दिये जा रहे हैं। हमारे यहाँ स्त्री मज़दूरों के लिए दुनिया में सबसे प्रगतिशील श्रम कानून हैं और संगठित मज़दूरों के अधिकृत प्रतिनिधियों द्वारा उनकी तामील होती है। हम प्रसूति गृह, माँओं और बच्चों के देखभाल के केन्द्र, नवजातों और बच्चों के लालन-पालन सम्बन्धी पाठ्यक्रम, माँओं और बच्चों की देखभाल सम्बन्धी प्रदर्शनियाँ और ऐसी ही अन्य चीज़ें संगठित कर रहे हैं। हम ज़रूरतमन्द और बेरोज़गार औरतों की ज़रूरतें पूरी करने की हर सम्भव कोशिश कर रहे हैं।”

“हम अच्छी तरह समझते हैं कि मेहनतकश स्त्रियों की ज़रूरतों को देखते हुए यह सब कुछ फिर भी बहुत कम है, कि उनकी सच्ची मुक्ति के लिए तो यह सब बिल्कुल नाकाफ़ी है। फिर भी, ज़ारकालीन और पूँजीवादी रूस में जो कुछ था, उसकी तुलना में यह बहुत आगे बढ़ा हुआ क़दम है। साथ ही, जिन देशों में अभी भी पूँजीवाद का बोलबाला है, वहाँ की स्थिति की तुलना में भी यह बहुत है। यह सही दिशा में एक अच्छी शुरुआत है, और हम इसे लगातार आगे बढ़ायेंगे, और सारी उपलब्ध ऊर्जा लगाकर आगे बढ़ायेंगे। आप, अन्य देशों के साथी, आश्वस्त रह सकते हैं। क्योंकि हर बीतते दिन के साथ यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि करोड़ों स्त्रियों को साथ लिये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते।”

मज़दूर बिगुल, अक्टूबर 2012

खूबसूरत चमड़ी का बदसूरत धन्धा

इनजिन्दर

लगातार तीखे होते जा रहे आर्थिक ध्रुवीकरण के कारण जहाँ मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी के दर्द बढ़ते जा रहे हैं, वहाँ औरतों के हालात तो इससे कहीं भयंकर होते जा रहे हैं। क्योंकि जहाँ औरतों की बहुसंख्यक आबादी गरीबी का सन्ताप झेल रही है। इसके साथ-साथ उसे इस मर्द-प्रधान समाज में औरत होने का सन्ताप भी भोगना पड़ रहा है। यानी वे गरीबी और औरत होने के द्वन्द की चक्की में लगातार ऐसी पिसती हैं कि उनकी हालत को शब्दों में बयान करना भी मुश्किल है। क्योंकि मुनाफ़े पर टिकी इस नरभक्षी पूँजीवादी व्यवस्था ने जीती-जागती औरत को महज़ एक वस्तु में बदलकर रख दिया है, जिसे बाक़ी वस्तुओं की तरह ख़रीदा और बेचा जा सकता है और उसके साथ हर तरह का अमानवीय व्यवहार किया जा सकता है।

औरतों के साथ होते इस अमानवीय व्यवहार की अनेकों घटनाएँ हमारे सामने होती रहती हैं। अब ये तथ्य सामने आये हैं कि अमीरों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए नेपाल के गाँवों में से गरीब परिवारों की लड़कियों को एजेण्ट ख़रीदकर भारत ले आते हैं, जहाँ उनको बेहोश करके उनके शरीर के कुछ हिस्सों की चमड़ी उतार ली जाती है। इसके बदले उन्हें महज़ दस से पन्द्रह हज़ार रुपये दिये जाते हैं और आगे यह चमड़ी बहुत ऊँची कीमतों पर बेची जाती है। चमड़ी उतारने के बाद इन लड़कियों को मुम्बई, कलकत्ता और दिल्ली जैसे महानगरों में देह-व्यापार के धन्धे में धकेल दिया जाता है। जहाँ सोलह-सोलह, सत्रह-सत्रह वर्ष की इन नन्हीं कलियों के सारे अरमान एक-एक करके टूट जाते हैं। जब उन्हें कागज़ के टुकड़े के बदले वहशी दरिन्दों के आगे फेंक दिया जाता है, जिनका कसूर सिर्फ़ इतना ही होता है कि उनके गरीब माँ-बाप ने उन्हें इस धरती पर जन्म दिया।

इन कोठों पर से भाग निकलने या आत्मरक्षा का कोई भी रास्ता इनके पास नहीं होता। क्योंकि अगर कोई लड़की भागने की कोशिश करती पकड़ी जाये तो उसको अपनी जान से हाथ धोने पड़ जाते हैं और उसको जानवरों की तरह

मारकर गटर में फेंक दिया जाता है ताकि और कोई लड़की ऐसा करने की हिम्मत न कर सके। लेकिन फिर भी बहुत सारी औरतें इस नर्कभरी ज़िन्दगी से निजात हासिल करने के लिए भागने की कोशिश करती हैं ताकि वह इंसानों जैसी ज़िन्दगी जी सके, लेकिन वहाँ दलालों की सख्त पहरेदारी उन्हें ऐसा करने का कोई मौका नहीं देती। एक लड़की का कहना था कि कई लड़कियाँ तो इस ज़िन्दगी से दुखी होकर आत्महत्या भी कर लेती हैं।

सुशीला थापा नाम की एक लड़की के मुताबिक वह इस धन्धे की ज़िन्दगी से बहुत जल्दी दुखी हो गयी थी और वह बहुत चुस्ती से दलालों को चकमा देकर तीन वर्षों बाद भागने में सफल हो गयी थी। लेकिन जब वह अपने गाँव सिन्धूपाल चौक गयी, जो कि काठमाण्डू से लगभग 75 किलोमीटर दूर है, तो उसके गाँव के कुछ लोगों ने अपनी झूठी इज़्ज़त के लिए इस लड़की को अपने गाँव में रखने से इन्कार कर दिया। कोई और रास्ता न होने के कारण उसने मौत जैसी ज़िन्दगी को फिर गले लगा लिया। वह किसी एजेण्ट के ज़रिये अपने पेट की आग बुझाने के लिए दुबारा देह-व्यापार के धन्धे में शामिल हो गयी। जहाँ रहना उसे एक पल भी अच्छा नहीं लगता, वहाँ वह सारी ज़िन्दगी बिताने के लिए मज़बूर हो गयी। उसका कहना है कि वह अपनी मौत का इन्तज़ार कर रही है। बस ख़ुद मरा नहीं जाता, लेकिन यहाँ की ज़िन्दगी और मौत में कोई अन्तर नहीं है।

चमड़ी की तस्करी में शामिल एजेण्ट का कहना है कि इन नेपाली लड़कियों की चमड़ी गोरे रंग की होने के कारण दुनिया-भर में बहुत ऊँची कीमतों पर बिकती है। जो अमीरों की, ख़ास करके अमीर औरतों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए प्लास्टिक सर्जरी करने और छातियाँ बड़ी करने आदि के कामों में इस्तेमाल की जाती है।

एक और कोमल नाम की लड़की ने बताया कि अपनी चमड़ी बेचने के कारण बेशक कुछ पैसे इकट्ठा तो हमें ज़रूर मिल जाते हैं, लेकिन इसके बाद हमें बहुत नुक़सान होता है। क्योंकि फिर हमारे पास कोई अच्छा ग्राहक नहीं आता, जो ग्राहक आते हैं वे हमारे शरीर पर दाग़ देखकर या तो हमारे पास रुकना पसन्द नहीं करते या फिर बहुत थोड़े पैसे देकर हमें अपनी हवस का शिकार बनाते हैं। वे हमारे साथ पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं, बल्कि हमसे उम्मीद करते हैं कि हम उनके साथ प्रेमिकाओं जैसा व्यवहार करें, कुत्ते!

देह व्यापार के धन्धे के साथ मानवीय चमड़ी की तस्करी का यह धन्धा आजकल ज़ोरो-शोरो पर चल रहा है और लगातार बढ़ता जा रहा है। वर्ष 2002 से लेकर अब तक इस धन्धे में 70 फ़ीसदी की वृद्धि हुई है और बहुत ज़्यादा लोग इस धन्धे में शामिल हो चुके हैं। ऐसे ही अमानवीय धन्धों को रोकने के लिए सरकारों के क़ानून का मुँह पूरी तरह बन्द है।

दरअसल अमीरों की सुन्दरता को बढ़ाने के लिए ग़रीब औरतों की ज़िन्दगी को बदसूरत करना इस पूँजीवादी व्यवस्था के लिए कोई हैरानीजनक बात नहीं, बल्कि आज पूरी पूँजीवादी व्यवस्था ही मुट्ठी-भर पूँजीपतियों की ज़िन्दगी को ख़ूबसूरत बनाने के लिए करोड़ों लोगों की ज़िन्दगी को बदसूरत बना रहा है। इसलिए ज़रूरत है कि आज मेहनतकश लोगों और नौजवानों को लामबन्द करके समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करने के लिए तैयार किया जाये जिसमें ऐसी अमानवीयताओं से छुटकारा पाया जा सके।

मज़दूर बिगुल, जून 2017

जब क्रान्ति के दिन थे, लोग चीजों को अलग ढंग से देखते थे माओवादी चीन में बच्चों की सामूहिक देखभाल ने औरतों को किस तरह आजाद किया!

ली ओनेस्टो (रिवोल्यूशनरी वर्कर' से साभार)

अनुवाद: मीनाक्षी

जब कभी औरतें आपस में मिलती जुलती हैं और अपनी समस्याओं के बारे में बातचीत करती हैं तो घरेलू कामकाज और बच्चों की देखभाल हमेशा उनकी चर्चा का मुख्य विषय होता है। समाज में जिस ढंग से कामों का बंटवारा हुआ है उसमें घर के कामों को निपटाने और बच्चों की देखभाल करने की मुख्य जिम्मेदारी उन्हीं की होती है। ज्यादातर नौकरीपेशा औरतें इस बात को महसूस करती हैं कि उन्हें 'दोहरी नौकरी' का बोझ उठाना पड़ता है – पूरे दिन बाहर काम करना और घर लौटने के बाद फिर चूल्हा-चौखट और बच्चे सम्हालना।

समाज में इस तरह का श्रम विभाजन औरतों के दमन-उत्पीड़न का कारण बनता है। वे अलग-थलग पड़ कर घर के दायरे में सिमट जाती हैं जहां बच्चों की चिन्ता और घर के कामों का बोझ उन्हें शारीरिक रूप से थका डालता है और दिमाग को सुन्न बना देता है। यह क्रान्तिकारी संघर्षों में उनकी भागीदारी को असम्भवप्राय ही नहीं बनाता वरन् उन्हें अपने ढंग से जी लेने की गुंजाइश भी नहीं छोड़ता। जाहिर है जिसकी जिन्दगी का एक बड़ा हिस्सा बच्चों के पालन-पोषण और घर के काम काज में व्यतीत होता हो वह समाज के प्रति अपने देय को पूरा करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो सकता। जब तक श्रम विभाजन की इस दमनकारी व्यवस्था से छुटकारा नहीं पा लिया जायेगा औरतों की मुक्ति असम्भव है।

‘बच्चों की देखभाल कौन करे’ यह प्रश्न स्त्रियों और पुरुषों के बीच एक बड़ा मुद्दा बना रहता है। कुछ स्त्रियां चाहती हैं कि उनके पति घर के कामों और बच्चों की देखभाल में और अधिक से अधिक जिम्मेदारी उठावें। इस प्रकार एक अन्तहीन संघर्ष चलता रहता है। दुनिया भर की औरतें इस स्थिति से निपटने की राह ढूंढ रही हैं। गरीब स्त्रियां महसूस करती हैं कि न्यूनतम मजदूरी पर उन्हें कोई काम मिलता भी है तो बच्चों की देखभाल इस नौकरी की इजाजत उन्हें नहीं देती। और बहुत सी नौजवान औरतों को तो इसके लिए अपनी मां पर निर्भर रहना पड़ता है। मध्य वर्ग की औरतें अपने बच्चों की देखभाल के लिए ऐसी आयाओं की नियुक्ति करती हैं जो ज्यादातर आप्रवासी होती हैं और बहुत कम वेतन पर बिना किसी लाभ के काम करने को विवश होती हैं। और हम ज्यादा से ज्यादा यही सुनते आ रहे हैं कि कोई स्त्री, चाहे कितना ही जरूरी काम उसके पास क्यों न हो, ‘सबसे पहले वह एक मां होती है। यह परिस्थितियां वाकई पागल बना देने वाली होती हैं। स्त्री और पुरुष के बीच इस प्रकार का उत्पीड़नकारी श्रम विभाजन एक विश्व ऐतिहासिक समस्या है। पूंजीवादी समाज में पारिवारिक जीवन को नितान्त निजी बना दिया जाता है। करोड़ों की संख्या में औरतें अपने घरों में प्रतिदिन रात को वापस लौटती हैं जहां उन्हें वही चूल्हा-चौखट, कपड़ा बासन, झाड़ू-पोछा, हाट-बाजार और बच्चों को खिलाने-सुलाने के कामों से रोज-रोज जूझना पड़ता है। रोजमर्रा के यही घरेलू काम अपने-अपने घरों में अलग-अलग करने से उन करोड़ों औरतों की ऊर्जा और समय की व्यर्थ बरबादी होती है और जिसकी थकान उनके शरीर को तोड़ डालती है। जब कि ऐसे ही घरेलू काम और साथ-साथ बच्चों की परवरिश भी सामूहिक रूप में और समाजीकृत तरीके से हो सकती है। यह मानव संसाधन का भारी अपक्षय है और पूरी दुनिया के पैमाने पर सर्वहारा के लिए एक बड़ी समस्या है। क्योंकि जब तक ऐसे हालात रहेंगे मानव जाति का यह आधा हिस्सा सामाजिक विकास में कभी पूरी तरह से सहयोग नहीं कर सकता। इसलिए हम कहते हैं कि “क्रान्ति के एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में औरतों के आक्रोश को उन्मुक्त करो।”

ऐसी तमाम बातें हमें यह सोचने को बाध्य करती हैं कि इस समस्या का समाधान कहीं पूरे समाज को एक भिन्न तरीके से संगठित करने में तो नहीं है और क्या इसके लिए कोई राह निकाली जा सकती है? और रास्ता निकला था। क्रान्तिकारी चीन में माओ त्से-तुङ की अगुवाई में मेहनतकश जनता 1949

में सत्ता पर कब्जा करने के बाद एक नये समाजवादी समाज के निर्माण में पच्चीस वर्षों से अधिक समय तक लगी रही। माओ ने इस बात की अनिवार्यता को समझा कि क्रान्ति स्त्रियों को उनके रोजमर्रा के घरेलू कामों और बच्चों के परवरिश से मुक्त करे। अन्यथा इस मुक्ति के बिना सभी प्रकार के शोषण-उत्पीड़न से युक्त एक नये समाजवादी समाज के निर्माण में आधी आबादी बराबरी की हैसियत से और पूरी क्षमता के साथ लग कर काम कर सके, यह सम्भव ही नहीं है। और यही वह माओवादी दृष्टिकोण था जिसकी रोशनी में चीनी जनता ने बच्चों की समस्या का सच्चा समाधान पाया।

आज अमरीकी शासक लोगों से कहते हैं, “परम्परागत पारिवारिक मूल्यों की ओर लौट चलो।” लेकिन क्रान्तिकारी चीन में स्त्रियां उन तमाम ‘परम्परागत पारिवारिक मूल्यों’ के खिलाफ उठ खड़ी हुई थीं जिन्होंने हजारों हजार साल से उन्हें दबाये रखा था। माओ के क्रान्तिकारी चीन ने बच्चों की समस्या का समाधान किस प्रकार किया था यह वृत्तान्त ऐसे तमाम लोगों के लिए जानना प्रासंगिक होगा जो मूलभूत और क्रान्तिकारी बदलाव के लिए संघर्षरत हैं। क्योंकि यह बताता है कि किस प्रकार जब जनता मौजूदा ढांचे को गिराकर वास्तविक अर्थों में राजनीतिक सत्ता पर कब्जा जमा लेती है, तो उन सभी समस्याओं का समाधान ढूंढ लेती है जो पूंजीवादी समाज में कभी सम्भव नहीं रहा। और यह दिखाता है कि किस तरह केवल माओवादी क्रान्ति ही औरतों को आजाद कर सकती है।

पुराने चीन में कनफ्यूशियस का प्राचीन दर्शन लोगों के जीवन को नियंत्रित करता था और स्त्रियों को उत्पीड़ित करने में परम्पराओं की महती भूमिका होती थी। औरतों को हर हालत में पुरुषों से कमतर समझा जाता था। उनके लिए एक ही तयशुदा काम था – अपने पतियों की सेवा करना और उनके लिए कई-कई बेटे पैदा करना।

शुरू से ही माओ ने स्त्रियों की मुक्ति को क्रान्ति का अविभाज्य अंग बनाया। 1949 के पूर्व जिन क्षेत्रों को लाल सेना ने मुक्त किया वहां स्त्रियों को दबाने वाली तमाम सामन्ती परम्पराओं के विरुद्ध जबरदस्त संघर्ष चला। और शहरी एवं ग्रामीण इलाकों से औरतों की अच्छी-खासी आबादी क्रान्ति की कतारों में आकर शामिल हुई।

1949 के बाद ऐसे कानून बनाये गये जिसमें औरतों को जमीन पर बराबर

का मालिकाना हक मिला और काम करने तथा शासन व्यवस्था चलाने में उनकी समान भागीदारी सुनिश्चित हुई। लेकिन पूरे चीनी समाज में एक पिछड़ी और स्त्री विरोधी सोच मौजूद थी। और समाजवाद के निर्माण के लिए स्त्रियों को पूरी तरह और बराबर की भागीदारी के लिए आगे लाने का काम आसानी से या एक झटके में नहीं हो गया।

कम्युनिस्ट पार्टी ने स्त्रियों के 'घर से बाहर निकलने और स्त्री समुदाय के राजनीतिक-आर्थिक जीवन में हिस्सेदारी की जरूरत पर बल दिया। लेकिन इसका भारी प्रतिरोध हुआ – पुरुषों और साथ-साथ परिवार के दूसरे सदस्यों द्वारा भी। जैसे सासें चाहती थीं कि उनकी बहुएं घर सम्हालें और बच्चों की देखभाल करें। क्रान्ति के लिए यह एक आसन्न समस्या थी।

ग्रामीण इलाकों में, जहां चीनी समाज की बहुसंख्यक आबादी रहती थी, और शहरों में नारी सभाएं स्थापित की गईं। औरतों के ये संगठन उत्पीड़नकारी पारिवारिक सम्बन्धों को बरकरार रखने वाले पतियों, पिताओं और सासों के खिलाफ संघर्ष में स्त्रियों के मददगार होते थे। उदाहरण के लिए यदि कोई पति बच्चों की देखभाल से इंकार करता था या अपनी पत्नी को नौकरी ढूंढने अथवा राजनीतिक बैठकों में शामिल होने की इजाजत नहीं देता था तो संगठन का एक प्रतिनिधि मंडल जाकर उसके साथ उन तौर-तरीकों को बदलने के लिए संघर्ष चलाता था। यदि किसी स्त्री को किसी राजनीतिक बैठक में शामिल होने के लिए रात को बाहर निकलना पड़ता था तो बच्चों की देखभाल की जिम्मेदारी पति को दे दी जाती थी। औरत राजनीतिक बैठक में जाये और बच्चों की देखभाल पति करे ऐसी चीजें पुराने चीन में कभी सुनी नहीं गई थी। और जब पुरुषों ने बच्चों की देखभाल में और अधिक जिम्मेदारी उठानी शुरू कर दी तो सच्चे अर्थों में यह एक आगे बढ़ा हुआ कदम था। लेकिन इस समस्या का समाधान तब तक नहीं ढूंढा जा सका जब तक दायित्व का यह बंटवारा केवल पति-पत्नी के बीच बना रहा। हर परिवार का अलग-अलग और निजी मसला बना रहा। दरअसल होता यह था कि परम्परा के दबाव में बच्चों की देखभाल का ज्यादा से ज्यादा बोझ औरतों पर ही आ पड़ता था। इस समस्या का सही समाधान तभी सम्भव था जब बच्चों के देखभाल की समूची जिम्मेदारी समाज उठाये। प्रत्येक परिवार के वैयक्तिक स्तर पर जूझने की जगह जरूरत इस बात की थी कि बच्चों के पालन-पोषण और अन्य घरेलू कामों का समाजीकरण किया जाये।

और समाजीकरण की यह प्रक्रिया नये समाज के निर्माण का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था जिसमें लोग सहकार के साथ और सामुदायिक रूप से रहते और काम करते थे।

बच्चों के पालन-पोषण की समस्या का सामूहिक ढंग से समाधान

पचासवें दशक के आरम्भ में बच्चों की देखभाल सम्बन्धी सुविधाओं का एक तानाबाना शहर के निकटवर्ती क्षेत्रों और देहाती इलाकों में स्थापित कर लिया गया। इसके अन्तर्गत शिशुओं के लिए पालनाघर खोले गये जहां माएं काम के घंटों के बीच अपने बच्चों को दूध पिला सकती थीं और उनकी देखभाल कर सकती थीं। इसके अतिरिक्त सात वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए, जो अभी स्कूल नहीं जाते थे, शिशु-सदनों (नर्सरी) और बालविहारों (किन्डरगार्टन) की स्थापना की गई। ये नर्सरी और बालविहार निकटस्थ संगठनों, विद्यालयों और कारखानों द्वारा अथवा देहाती इलाकों में किसानों की सहकारी समितियों के द्वारा चलाये जाते थे। बच्चों के पालन-पोषण में उपचारिकाओं और शिक्षिकाओं को प्रशिक्षित करने के लिए स्कूल खोले गये। बड़े शहरों में लोगों को बच्चों के सामूहिक देखभाल में प्रशिक्षित करने के लिए महिला संघ ने अल्पकालिक कक्षाओं की श्रृंखला की शुरुआत की।

ग्रामीण क्षेत्रों में बच्चों के देखभाल की सुविधा शुरू में तो बहुत व्यापक स्तर तक नहीं पहुंची थी और उनमें से कई तो प्रयोगों के दौर में तथा छोटे पैमाने पर उपलब्ध थीं। लेकिन 1958-59 में महान अग्रवर्ती छलांग के साथ ही इस स्थिति में एक भारी परिवर्तन आया। महान अग्रवर्ती छलांग एक वृहद जनान्दोलन था जिनका सूत्रपात माओ ने किया था। आर्थिक विकास के क्षेत्र में यह एक जबर्दस्त कदम था – खासकर ग्रामीण इलाके में जहां कृषि तथा छोटे स्थानीय उद्योगों के वास्तविक विकास के लिए किसानों को गोलबन्द किया गया इसने गुलाम बनाने वाली परम्पराओं और विचारों पर जबर्दस्त प्रहार किया।

राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाले इस अभियान में स्त्रियों की मुक्ति एक केन्द्रीय मुद्दा था। गांवों में सामूहिक खेती के रूप विकसित किये गये और कम्प्यूनों की स्थापना की गई जहां दसियों हजार किसान साथ-साथ रहते और काम करते थे। इससे परिवार के एक इकाई के रूप में लोगों के जीवन की धुरी बने रहने पर जोर कम पड़ने लगा। जैसे-जैसे लोगों का आर्थिक जीवन अधिकाधिक समाजीकृत होता गया अन्य चीजों जैसे बच्चों के पालन पोषण के समाजीकरण

का भी आधार तैयार होने लगा। समाज द्वारा बच्चों की यह सामूहिक देखभाल चीन में एकदम नई चीज थी।

शिशुसदन और बाल विहार खोले जा सकें, इसके लिए कम्युनिस्ट पार्टी को वास्तव में महिलाओं की आबादी पर निर्भर होना पड़ा। यदि वे ऐसा नहीं करते तो महिलाओं की जरूरतों और सरोकारों को ध्यान में रखे बिना ही शिशु केन्द्रों की स्थापना होती। और अपनी भागीदारी के बगैर निर्मित संस्था में वे अपने बच्चों को अपरिचितों के साथ छोड़ने में हिचकतीं। इससे भी ज्यादा जरूरी चीज यह थी कि इसके बिना उन पिछड़े विचारों और परम्पराओं के खिलाफ संघर्ष के लिए औरतों की आबादी को गोलबन्द नहीं किया जा सकता था क्योंकि यदि उन्हें 'घर से बाहर निकालना था' तो इसके लिए आवश्यक था कि ऐसे पिछड़े विचारों और परम्पराओं पर प्रहार किया जाये। किसी गांव या निकटवर्ती क्षेत्रों में (जिला, प्रांत) जांच-पड़ताल करने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के नेता वहां की महिलाओं को विचार-विमर्श के लिए तथा अपनी दिक्कतों और परेशानियों के बारे में विस्तार से और खुलकर बातचीत करने के लिए बुलाते थे। वे सबके साथ मिलबैठ कर तय करते थे कि बाल केन्द्रों की स्थापना किस ढंग से की जाये जिससे कि समूचे समुदाय के बच्चों की देखभाल हो सके। इसी क्रम में वे विभिन्न प्रकार के कार्यों का बंटवारा और उन कार्यों के लिए वेतन की अदायगी के सम्बन्ध में बातचीत कर लेते थे। बाल केन्द्रों की स्थापना के बाद उसमें काम करने वाले स्टाफ तथा बच्चों के माता-पिता की तमाम समस्याओं अथवा चिन्ताओं के निराकरण के लिए नियमित बैठकें हुआ करती थीं। एक बार किसी गांव में नये शिशु केन्द्रों के लिए स्टाफ जुटाने में उन्हें काफी मशक्कत करनी पड़ी। अधिकांश महिलाएं पुरुषों के साथ खेतों पर जाकर काम करना ज्यादा पसंद करती थीं। और दोनों ही बच्चों के देखभाल के काम को नीची नजर से देखा करते थे।

अवकाश प्राप्त बूढ़ी औरतों के लिए भी धमाचौकड़ी मचाते जिंदादिली से भरपूर बच्चों और किशोरों से भरे कमरे को सम्हाल पाना सम्भव नहीं होता था। अंततः इस गांव में समस्या का समाधान ढूंढ निकाला गया। वहां की युवा अविवाहित औरतों को शिशु पालन और सामूहिक रूप से बच्चों के देखभाल के लिए एक अल्पकालिक ट्रेनिंग कोर्स के लिए भेजा गया। प्रशिक्षित होकर लौटने के बाद छोटे-छोटे बालकेन्द्रों की जिम्मेदारी उनको सौंप दी गई जहां सहयोगी के रूप में अवकाश प्राप्त बूढ़ी औरतें उनके कामों में मददगार होती

थीं। और वे बूढ़ी औरतें पुराने समाज में जनता के अमानवीय उत्पीड़न के किस्से बच्चों को सुनाती थीं, यह भी उनके कामों का एक हिस्सा था। इस तरह बच्चों के पालन-पोषण की समाजीकृत व्यवस्था जैसे-जैसे व्यापक रूप से स्थापित होती गयी करोड़ों की संख्या में औरतें भी समाजवाद के निर्माण में भाग लेने के लिए स्वतंत्र होने लगीं। 1952 तक आते-आते कारखानों में, खदानों में सरकारी संगठनों में, शिशु केन्द्रों तथा स्कूलों की संख्या में 1949 के मुकाबले 22 गुना तक की वृद्धि हुई। और उन्नीस सौ पचास के पूरे दशक में खासकर 'महान अग्रवर्ती छलांग' के दौर में यह लगातार बढ़ता ही गया क्योंकि उस समय तक घरेलू श्रम के कई रूपों का जैसे रसोई, सिलाई और अनाज पीसने के कामों का समाजीकरण हो चुका था। अनुमान था कि 1959 तक देहाती इलाकों में लगभग 5 करोड़ शिशु केन्द्र और बालविहार, 3.5 करोड़ से अधिक सार्वजनिक भोजन कक्ष और अनगिनत आटे की मिलें तथा सिलाई केन्द्र स्थापित हो चुके थे। शहरों में सामूहिक सेवा सुविधाओं की व्यवस्था निकटवर्ती संगठनों द्वारा की जाती थी। और इसमें 'नुक़ड़ शिशु केन्द्र' (Street Nursing) और सामुदायिक भोजन कक्ष की सुविधायें भी थीं। इसमें से कुछ तो काफी बड़े थे और सैकड़ों परिवारों को खाना खिलाने की क्षमता रखते थे व कुछ छोटे और साधारण थे जहां कुछ दर्जन परिवार ही खाना खा सकते थे। नौकरीपेशा माता-पिता काम के बाद अपने बच्चों को इन सामुदायिक रसोई घरों में भोजन के लिए ले जाते अथवा उन्हें साथ लेकर अपने परिवार के साथ खाने के लिए घर पर जाते। कुछ शहरों ने 'पहिए गाड़ी पर भोजन (meals on wheels) पहुंचाने की व्यवस्था ऐसे लोगों के लिए शुरू की जिन्हें अपनी बीमारी की वजह से अथवा बीमार बच्चों के देखभाल के लिए घर पर रुकना पड़ता था। कारखानों में काम करने वाली मजदूर औरतों के लिए स्थापित शिशु केन्द्रों में बच्चों के देखभाल की अलग-अलग व्यवस्थाएं की गईं। वहां आधे दिन की, पूरे दिन की, चौबीस घंटों तथा पूरे सप्ताह के लिए बच्चों के देखभाल की व्यवस्था थी। इन शिशु केन्द्रों में समय का निर्धारण कारखानों की समय-सारिणी के अनुरूप होता था और औरतों के कार्य स्थल से इनकी दूरी कम से कम रखी गई थी।

समाजवादी चीन में बच्चों के देखभाल के ऐसे केन्द्रों की स्थापना को समाज ने भारी प्राथमिकता दी। नतीजतन बाल केन्द्रों का तेजी से विस्तार हुआ। उदाहरण के लिए 1959 में राजधानी पीकिङ में लगभग 1,250 नुक़ड़ बाल

विहार और शिशु केन्द्र थे जिनमें करीब 62,000 बच्चों की देखभाल होती थी। 1960 तक इन बाल विहारों और शिशु केन्द्रों की संख्या छलांग लगा कर 18,000 तक जा पहुंची, जहां 600,000 से भी अधिक बच्चों की देखभाल होने लगी।

सामूहिक देखभाल के व्यापक विस्तार के साथ ही पीकिड में लोगों ने 12,000 सामुदायिक भोजन-कक्ष बनाये तथा 1200 से अधिक सफाई व मरम्मत की दुकानें और 3,700 सेवा केन्द्रों की स्थापना की जहां वे अपने कपड़ों को मरम्मत तथा धुलाई के लिए छोड़ सकते थे। इसके साथ ही छोटे-छोटे शिशु केन्द्र (नर्सरी) भी खोले गये जहां महिलाएं कुछ घंटों के लिए अपने बच्चों को छोड़कर खरीददारी करने, फिल्म देखने अथवा अंशकालिक कक्षाओं के लिए स्कूल जा सकती थी।

सांस्कृतिक क्रान्ति ने रुढ़ियों की जकड़बन्दी पर गहरा प्रहार किया

1966 में माओ ने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। इसका लक्ष्य स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के ही अन्दर बैठे हुए उन नेताओं को बाहर निकाल फेंकना था जो पूंजीवाद की पुनर्स्थापना चाहते थे, समाज की दिशा क्या होगी? इस पर वाद-विवाद चलाने और संघर्षों में उतर पड़ने के लिए पूरे समाज के उतर पड़ने के लिए पूरे समाज के करोड़ों-करोड़ लोगों को लामबन्द किया गया। यह तय होना था कि क्या वर्ग समाज के भेदभाव और गैरबराबरी को मिटा कर जनता समाजवाद के निर्माण में लगी रहेगी अथवा 'एक दूसरे की हड्डी चिचोड़ने वाला' और 'मुनाफे को हर चीज के ऊपर रखने वाला' पूंजीवाद फिर से बहाल हो जायेगा?

सर्वहारा क्रान्ति ने वर्ग समाज के सभी पिछड़े रुढ़ियों और रिवाजों पर जबरदस्त प्रहार किया तथा औरतों के उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष इस 'क्रान्ति के भीतर चल रही क्रान्ति' का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बना। जो लोग चीन में पूंजीवाद का समर्थन कर रहे थे वे क्रान्ति को बीच में ही रोक देना चाहते थे। वे परम्परावादी पारिवारिक ढांचे को तोड़ने के खिलाफ थे और पिछड़े नारी विरोधी विचारों को बढ़ावा दे रहे थे।

कम्युनिस्ट पार्टी में रहते हुए पूंजीवाद की राह पकड़ने वाले लिन पियाओ जैसे लोगों ने कुछ इस प्रकार की चीजों जैसे कन्फ्रयूशियस की उक्ति 'अपने पर

संयम रखो और (बुर्जुआ-अनु) अधिकारों को पुनर्स्थापित करो' (Restrain one-self and restore the right) को प्रचारित किया जिसका तात्पर्य यह निकलता था कि प्रत्येक व्यक्ति को इस श्रेणीबद्ध समाज में अपनी 'स्थिति' को स्वीकार कर लेना चाहिए। उन्होंने इस विचार को बढ़ावा दिया कि औरतों को अपने परिवार और बच्चों के अलावा किसी चीज से मतलब नहीं रखना चाहिए। उन्होंने बच्चों की देखभाल करने वाले बाल-केन्द्रों की आलोचना की और कहा कि यहां बच्चों की उचित देखभाल नहीं होती तथा इसके पहले कि इनके पालन-पोषण का सामूहिकीकरण हो उनके विचार से समाज का और अधिक आर्थिक विकास होना आवश्यक था।

पार्टी के इन नेताओं ने समाज के ऐसे लोगों को गोलबन्द किया और उनकी अगुवाई की जो पिछड़े और परम्परागत नारी विरोधी विचारों का समर्थन करते थे। वे घरेलू कामों और बच्चों के पालन पोषण के समाजीकरण के प्रयासों पर कुठाराघात करते थे। ये चीजें इस बात को और अधिक पुख्ता ढंग से रेखांकित करती हैं कि समूचे चीन में औरतों के इतने अधिक घरेलू कामों का सामूहिकीकरण कितनी महान उपलब्धि थी। घरेलू कार्यों और बच्चों की देखभाल के समाजीकरण का स्तर क्रान्ति के बाद के चीन में एक समान नहीं था, विशेषकर गांवों और शहरों के बीच। 1971 तक चीन में 90 प्रतिशत औरतें घर से बाहर निकलकर काम कर रही थीं लेकिन शिशु देखभाल के सामूहिकीकरण की गति इतनी तेज नहीं थी। शहरों में एक से तीन वर्ष के आयु के लगभग 50 प्रतिशत बच्चे ही शिशु केन्द्रों में जाते थे जब कि शेष 50 प्रतिशत घर पर ज्यादातर अपने दादी-दादा के देखरेख में रहते थे तथा ग्रामीण इलाके में सामूहिक देखरेख में रहने वाले बच्चों का प्रतिशत तो और भी कम था। लेकिन चीन में शिशु देखभाल का समाजीकरण वर्ग संघर्ष का एक अंग था और औरतों की मुक्ति के लिए यह एक बड़ा कदम था। बच्चों के सामूहिक देखभाल जैसी 'नई समाजवादी चीजें' स्थापित करने के लिए समाज में भीषण राजनीतिक व विचारधारात्मक संघर्ष चला। हजारों साल की रुढ़ियों को चुनौती मिली और परम्पराओं की ये बेड़ियां उस समय टूट गई जब औरतों ने घर से बाहर कदम निकाला और समूचे चीनी समाज में आमूल चूल परिवर्तन के संघर्षों का हिस्सा बनीं। माओ के नेतृत्व में करोड़ों की संख्या में लोग हर प्रकार के उत्पीड़न और गैरबराबरी के खात्मे के लिए सचेतन रूप से काम कर रहे थे। और इस संघर्ष ने समाजीकृत शिशु देखभाल जैसी समाजवादी जिन 'नई

चीजों' को सृजित किया वह एक जबर्दस्त उपलब्धि व ऐतिहासिक प्रगति थी।

क्रान्तिकारियों की नई पीढ़ी तैयार करना

सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान चीन में 'शिशु देखभाल केन्द्रों' का उद्देश्य क्या था इस बात पर मतभेद था। कुछ लोगों का तर्क था कि सामूहिक देखभाल का मुख्य उद्देश्य बच्चों को महज भोजन, वस्त्र तथा एक सुरक्षित शरणस्थली देना था जबकि क्रान्तिकारियों का कहना था कि इन बाल केन्द्रों की महती जिम्मेदारी "क्रान्तिकारी उत्तराधिकारी" तैयार करना था। बच्चों को सिखाया गया 'जनता की सेवा करो'। उन्हें आपसी सहकार और सामूहिक रूप से पढ़ने, खेलने तथा समस्याओं को सुलझाने की शिक्षा दी गई। और उन्हें शारीरिक श्रम के महत्व के बारे में समझाया गया। उन्हें बताया गया कि जिस अनाज को वे खाते हैं, जो कपड़े वे पहनते हैं और जीवन की सभी आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले किसान और मजदूर ही हैं।

दायित्वबोध, जुलाई-सितम्बर 1999

कैसे पहुंची पेरिस कम्यून की चिंगारी चियापास की पहाड़ियों में

सत्यप्रकाश

मुक्ति के स्वप्न, मुक्ति के विचार, अमर होते हैं। उन्हें दबाया जा सकता है, धूल और राख की सात परतों के नीचे दफ़न किया जा सकता है, स्मृतियों से ओझल किया जा सकता है, निर्वासित किया जा सकता है। पर उन्हें कभी मिटाया नहीं जा सकता। लहरों में बहकर या हवाओं में उड़कर किसी कठोर चट्टान की नन्हीं सी दरार में जा गिरे बीज की तरह वे फिर अंखुवाते हैं, छनकर पहुंची सूरज की जरा सी रोशनी और थोड़ी सी नमी से भी वे पोषण लेकर बढ़ते रहते हैं और फिर एक दिन चट्टान का सीना फ़ाड़कर बाहर आ जाते हैं।

सवा सौ साल पहले 1871 के पेरिस कम्यून की चिंगारी आज मेक्सिको के चियापास की पहाड़ियों में लड़ रहे गुरिल्ला योद्धाओं तक कैसे पहुंची, यह एक बेहद रोमांचक, हैरतअंगेज और साथ ही आशा से भर देने वाली कहानी है।

अमेरिकी इजारेदार पूंजीपतियों द्वारा “खुली (बाजार) डकैती” को और तेज करने के लिए थोपे गये ‘उत्तरी अमेरिका मुक्त व्यापार समझौते’ (नाफ्टा) के लागू होने वाले दिन ही मेक्सिको में भड़के सशस्त्र किसान उभार ने सारे विश्व को चौंका दिया था। चियापास की पहाड़ियों में लड़ रहे विद्रोहियों में शामिल स्त्री योद्धा स्त्रियों में नई जागृति का संकेत दे रही थीं।

यहां हम इतिहास की एक अनोखी घटना की चर्चा करेंगे जो हमें पेरिस के बैरिकेड्स से चियापास के घने जंगलों से ढंकी पहाड़ियों तक ले जाती है—एक लाल झण्डे और एक “लाल दिल”वाली महिला के पदचिह्नों के सहारे।

पेरिस कम्यून की स्त्रियाँ

18 मार्च, 1871। शहर के मजदूरों और आम जनता के सशस्त्र दस्ते पेरिस नेशनल गार्ड का पेरिस पर अधिकार हो गया। थियेर के नेतृत्व में राष्ट्रीय सरकार भागकर वर्साई के महलों में जा छुपी। दस दिन बाद पेरिस कम्यून की स्थापना

की घोषणा कर दी गयी। इतिहास में पहली बार सर्वहारा अधिनायकत्व कायम हुआ। यह एक अभूतपूर्व घटना थी।

यूरोप की पूर्ववर्ती क्रान्तियों में, खासकर 1848 की क्रान्ति में सर्वहारा ने भाग लिया था और प्रायः मुख्य लड़ाकू शक्ति वही था लेकिन पहली बार उसने खुद अपने लिए सत्ता पर कब्जा किया था। कम्यून सिर्फ़ दो महीने टिका रहा, लेकिन बुर्जुआ समाज के ताने-बाने को तोड़कर एक नये प्रकार की क्रान्ति जन्म ले चुकी थी।

इस नयी क्रान्ति के सभी क्षेत्रों में स्त्रियां अग्रिम मोर्चों पर थीं। उन्होंने कम्यून के नेतृत्व में मौजूद प्रूथों जैसे रूढ़िवादियों को चुनौती दी जो स्त्रियों को दबाकर रखने की वकालत करते थे। उन्होंने चर्च की खुली मुखालफ़त की। और राजनीति में तथा रणभूमि में उनके दुस्साहसिक कारनामों से पेरिस के बुर्जुआ जेंटिलमैनों और उनके जनरलों की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई।

कम्यून के लाल झण्डे की तरह लाल कमरबन्द और लाल स्कार्फ़ पहले कम्यून की स्त्रियां बुर्जुआ हलकों में कुख्यात थीं। दुश्मन सैनिकों की बढ़त रोकने के लिए केरोसिन से लैस उनके दस्ते जगह-जगह आग लगा देते थे। जब वर्साय की सेनाओं ने पेरिस पर फिर कब्जा कर लिया तो बड़ी तादाद में स्त्रियों को फ़ायरिंग स्क्वाड के सामने भेजा गया। शहरी गरीब वर्ग की कोई भी स्त्री टोकरी या बोटल लिए हुए दिख गयी तो उसे 'फ़ूक-ताप दस्ते' की सदस्य मानकर फ़ौरन गोली मार दी जाती थी।

हमले की पहली रात। अंधेरे का फ़ायदा उठाकर फ़्रांसीसी सरकार के सैनिक चुपचाप पेरिस में घुस आये थे। वे उन तोपों को वापस ले जाने की फ़िराक में थे जिन्हें जनता ने छीन लिया था। लेकिन उन्हें देख लिया गया और थोड़ी ही देर में वहां स्त्री-पुरुषों की भीड़ उमड़ पड़ी। स्त्रियों ने तोपों को अपने शरीर से ढंक दिया। सिपाहियों ने अफ़सरों का गोली चलाने का आदेश मानने से इंकार कर दिया। सैनिक वापस लौट गये, पर अनेक कम्युनार्डों से आ मिले।

पेरिस कम्यून की इन वीरांगनाओं में एक थीं लुइस मिशेल। 1830 में जन्मी लुइस की मां एक किसान स्त्री थी और पिता एक बिगड़ा हुआ जागीरदार जिसने उसे अपनी पुत्री मानने से इंकार कर दिया था। कम्यून के समय वह 41 वर्ष की थी।

पढ़-लिखकर शिक्षिका बनी लुइस 1851 में मां के साथ पेरिस आ गई जहां उन्होंने 'सोसायटी फ़ार दि रिक्लेमेशन ऑफ़ विमेन्स राइट्स' और 'स्त्री अधिकार' नामक अखबार की शुरुआत में अहम भूमिका निभाई। प्रशा की सेना द्वारा पेरिस की घेरेबन्दी के दौरान उन्होंने मोंतमार्ने में "सतर्कता समिति" गठित की और 'बीस अरांदिस्मेंट्स की केन्द्रीय कमेटी' में डेलीगेट चुनी गई जिसने ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन तथा कार्लमार्क्स के इंटरनेशनल की पेरिस शाखा के साथ मिलकर "... बुर्जुआ वर्ग के विशेषाधिकारों के खात्मे, एक शासक जाति के रूप में इसकी समाप्ति और राजनीतिक सत्ता मजदूरों को सौंपे जाने"की मांग उठाई थी।

कम्यून के दौरान मिशेल चारों तरफ़ दिखाई देती थीं। कभी वह स्त्रियों को नर्सों और योद्धाओं के रूप में संगठित करती नजर आतीं, कभी राजनीतिक बैठकों में भाषण करतीं तो कभी सैनिक लड़ाइयों की अग्रिम पंक्ति में मोर्चा लेती दिखतीं।

कम्यून की घोषणा के बाद लुइस मिशेल वर्साई जाकर प्रतिक्रियावादी सरकार के नेता थियेर को खत्म कर देना चाहती थीं। इसे नामंजूर करने के पीछे एक तर्क यह दिया गया कि ऐसा कर पाना व्यावहारिक नहीं था। लुइस भेष बदलकर दुश्मन सेनाओं के बीच से होती हुई वर्साई पहुंच गई, सैनिकों के बीच राजनीतिक प्रचार किया, अपना वर्साई पहुंचना साबित करने के लिए वहां के कुछ अखबार खरीदे और सुरक्षित लौट आई। एक बार जब घेरेबन्दी से भयभीत हो गया कम्यून का एक पदाधिकारी क्लैमार्त स्टेशन को दुश्मन के सुपुर्द कर देना चाहता था, तो लुइस मिशेल जलती मोमबत्ती लेकर गोला-बारूद से भरे कमरे के दरवाजे पर बैठ गई और धमकी दी कि यदि उसने समर्पण किया तो वह पूरे स्टेशन को उड़ा देंगी।

कम्यून के अन्तिम सप्ताह में वह मोंतमार्ने की कब्रगाह के बैरिकेड पर तबतक लड़ती रहीं जब तक 50 में से सिर्फ़ 15 योद्धा बचे रह गये। मोंतमार्ने को बचाने की असफल कोशिश के बाद मिशेल बचे हुए साथियों को लेकर दूसरे बैरिकेड पर आ गई और वहां भी दुश्मन सैनिकों का कब्जा हो जाने पर वह भेष बदलकर अपनी बूढ़ी मां को देखने घर पहुंचीं पर वर्साई पुलिस ने लुइस के बदले उनकी मां को गिरफ्तार कर लिया था। लुइस ने अपनी मां की रिहाई के बदले खुद को गिरफ्तार करा दिया।

उन पर मुकदमा चलाकर दूसरे कम्युनार्डों के साथ उन्हें ऑस्ट्रेलिया के पास फ्रांसीसी उपनिवेश न्यू कैलिडोनिया के टापू पर निर्वासित कर दिया गया। 1878 में जब वहां पोलिनेशियाई लोगों की बगावत फूट पड़ी तो कुछ कम्युनार्डों ने उसे दबाने में फ्रांसीसी सेना का साथ दिया। लेकिन सच्ची अन्तरराष्ट्रीयतावादी लुइस मिशेल ने पोलिनेशियाई मूल निवासियों का पक्ष लिया और गुप्त रूप: “कनक लोगों (पोलिनेशियाई मूल निवासी) के दिलों में मुक्ति और रोटी की वही आशा थी। मुक्ति और सम्मान की चाह में उन्होंने 1878 में विद्रोह कर दिया। मेरे दूसरे कामरेड उस शिद्दत से इसका समर्थन नहीं करते थे जिस तरह मैं करती थी।... कनक लोग उसी स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे जो हम कम्यून के जरिये लाना चाहते थे। एक रात मुझे अपने लाल स्कार्फ को दो टुकड़ों में बांटना पड़ा जिसे मैं हर तलाशी से छुपाकर बचाती आई थी। गोरों के विरुद्ध लड़ने के लिए विद्रोहियों से मिलने जा रहे दो कनक मुझसे विदा लेने आये थे।

वे तूफानी समुद्र में उतर गये। हो सकता है वे खाड़ी पार ही नहीं कर पाये हों, या शायद लड़ते हुए मारे गये हों। मैंने उन्हें फिर नहीं देखा।”

लेकिन कम्यून का लाल स्कार्फ और उसके साथ मुक्ति और समानता के कम्यून के विचार जीवित रहे और हजारों मील का सफ़र करके दुनिया के दूसरे छोर पर पहुंच गये।

पकड़े गये कनक विद्रोहियों को गुलामों के रूप में बेच दिया गया जिनमें से कुछ खेतों पर काम करने के लिए मेक्सिको ले जाये गये। मेक्सिको के लेखक अन्तोनिया गार्सिया डि लियोन की पुस्तक ‘रेजिस्टेंसिया यूटोपिया’ इस अद्भुत कहानी के आगे के सूत्र ढूंढ़ती है:

“मेक्सिको में 1888 में बस गई हेलेन सार्जेंट नामक अमेरिकी महिला ने अपनी डायरी में लिखा:... अपने “आदिम कृषि कम्युनिज्म” और चियापास के (रेड) इण्डियंस से मिलते-जुलते ऐतिहासिक अनुभवों के साथ कनक लोग पेरिस कम्यून की धुंधली स्मृतियां भी लाये थे। यह एक ऐसी विचित्र घटना थी जिसे विश्व पूंजीवाद के बर्बर विस्तार के सन्दर्भों में ही समझा जा सकता है। पेरिस कम्यून के ये स्मृति-चिह्न सोनोकुस्को (दक्षिण चियापास का क्षेत्र) में अराजकतावादी आन्दोलन और सामाजिक संघर्ष का यूटोपियाई प्रतीक बन गये। कनक विद्रोह के समय न्यू कैलिडोनिया फ्रांसीसियों के कब्जे में था जहां सजायाफ्ता लोगों को निर्वासित कर दिया जाता था। बन्दी कम्युनार्डों की

पहली टोली सितम्बर 1872 में वहां पहुंची थी। छह वर्ष बाद जब वहां के मूल निवासियों ने विद्रोह कर दिया तो कुछ निर्वासितों ने मूल निवासियों के आक्रोश का दमन करने में मदद की। लेकिन बहुतों ने, जिनमें अविस्मरणीय लुइस मिशेल भी थीं, विद्रोहियों का पक्ष लिया। कनक लोगों के “कम्यून” की हार के पहले मिशेल ने उन्हें “पेरिस कम्यून का लाल झण्डा” थमाया था। कुचल दिये जाने के बाद जब उन्हें गुलामों के रूप में बेचा गया तो वे उस झण्डे को पहने हुए थे। जब उन्हें प्रशान्त महासागर पारकर दक्षिण अमेरिका के तट पर उतार गया तो वे उस झण्डे को और इसके साथ जुड़ी कम्यून की स्मृतियों और मुक्ति के स्वप्नों को भी ले आये। सोनोकुस्को में यह बीज फिर अंकुषाया और लाल कमरबन्द चामुला मूल निवासियों की लड़ाई का अंग बन गया।

दायित्वबोध, मार्च-जून 1998

कविता कृष्णपल्लवी की डायरी के चन्द पन्ने

एक मध्यवर्ग की स्त्री मध्यवर्ग पहले होती है और स्त्री बाद में।

गौर कीजियेगा, मध्यवर्गीय स्त्रियां घरेलू नौकरानियों, रिक्शेवालों, रेहड़ीवालों के साथ सबसे अधिक टुच्चेपन-लीचड़पन का व्यवहार करती हैं। काम करवाने में पाई-पाई सधाना, बासी खाना और फटे कपड़े देना, दमड़ी-दमड़ी का मोल-तोल करना और मौका हाथ लगने पर ठेले से दो टमाटर चुराकर झोले में डाल लेना - ये उनकी आम आदतें होती हैं। एक स्त्री के रूप में उनकी सहानुभूति न मेहनतकश स्त्री के साथ होती है, न ही एक उत्पीड़ित के रूप में अन्य उत्पीड़ितों के साथ।

बात यहीं नहीं रुकती। यही मध्यवर्ग की स्त्री यदि बौद्धिक होती है और पुरुषवर्चस्व के विरुद्ध आवाज़ उठाती है तो उसके एजेण्डे पर घरेलू गुलामी और दोगम दर्जे की सामाजिक स्थिति के वे आम मुद्दे तो होते हैं जो उसके अपने ज्वलंत मुद्दे हैं, लेकिन मजदूर स्त्रियों के जीवन के ज्वलंत मुद्दे नहीं होते। यदि ये मुद्दे होते भी हैं तो रस्मी या फ़ौरी मुद्दे के तौर पर। स्त्री आंदोलन में मजदूर स्त्रियों को पढ़ी-लिखी मध्यवर्गीय “दीदी” लोगों के पीछे चलने वाली भीड़ बना दिया जाता है। स्त्री आंदोलन पर मध्यवर्गीय वर्चस्व की यह समस्या एक गम्भीर समस्या है।

गुलामी एक आदत बन जाती है !

अपनी गृहस्थी के घोंसले को सजाती संवारती, उसकी हिफाजत के लिए चिन्तित स्त्री उस गुलाम के समान होती है जो जंजीरें काटकर मुक्त कर दिये जाने के बावजूद अपने दड़बे में लौट आता है क्योंकि आज़ादी की अनिश्चितता-असुरक्षा के बजाये उसे उस गुलामी की सुरक्षा ज्यादा बेहतर प्रतीत होती है जिसका वह आदी हो चुका है। वह पिंजरे के आदी उस तोते के समान होती है जो दरवाजा खुला होने पर भी बाहर नहीं उड़ता क्योंकि मुक्त आकाश से उसे

डर लगता है। गुलाम औरतें गुलामी के खिलाफ़ आवाज उठाने वाले लोगों से (स्त्रियों और पुरुषों - दोनों से) बहुत अधिक चिढ़ती और डरती हैं।

पराजित लोग अक्सर आपस में एकजुट नहीं होते और यह स्थिति विजेताओं की ताकत होती है।

स्त्रियां आपस में अपने आंसू, दुःख और रहस्य बांटते हुए भी, परस्पर ईर्ष्या-कलह का शिकार होती हैं। यह उनका पराजय बोध होता है। बहुधा यह स्थिति प्रबुद्ध और प्रगतिशील स्त्रियों के बीच भी देखने को मिलती है।

लेखकों की एक बैठकी में स्त्रियों के बारे में बातें हो रही थीं। तोलस्तोय चुपचाप सुनते रहे। फिर सबको टोकते हुए उन्होंने निर्णय दिया, “स्त्रियों के बारे में या तो ईश्वर जानता है, या फिर तोलस्तोय।” लोगों ने जब आग्रहपूर्वक स्त्रियों के रहस्य के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा, “जब मेरी कब्र खुद जायेगी तो उसमें पैर लटकाकर बैठने के बाद स्त्रियों के बारे में आखिरी सच्चाई बताकर मैं कब्र में कूद जाऊंगा।”

बात सौ ठके की है। उत्पीड़ितों की अपनी दुनिया होती है। अपने राज वे कभी भी उत्पीड़िकों के साथ शेयर नहीं करते। पुरुष जब प्रेम में दीवाना होता है तो अन्तरंग क्षड़ों में भी स्त्री अपना अर्न्तमन पूरी तरह से खोलकर नहीं रखती। उत्पीड़ितों को जीने के लिए चालाक (पुरुषों की दृष्टि से धूर्त या काइयां) होना ही पड़ता है। स्त्रियां प्रायः भोली नहीं होती। भोलापन या तो उनका हथियार होता या ढाल या विवशता। जो भोली है, वह मारी जायेगी। प्रायः स्त्रियां आसानी से पुरुषों को अपनी वफ़ादारी का क्रायल बना लेती हैं। यह जीने के लिए उनकी विवशता होती है। साथ ही, वे पुरुषों को उल्लू भी बनाती हैं और इस तरह अपने उत्पीड़न का बदला लेती हैं।

जो ऐसा नहीं करतीं वे या तो पाशविक उत्पीड़न या डिप्रेसन का शिकार होती हैं, या फिर सामाजिक बंधनों को तोड़कर मुक्तिकामी कतारों में अपनी जगह तलाशती हैं।

स्त्री की अपनी जगह कई बार उसके अपने अकेलेपन में सुरक्षित होती है।

यह अकेलापन सामाजिकता का निषेध नहीं है। यह सोचने और सर्जनात्मकता की जरूरत होती है और अपने निजी दुःखों - उदासियों के बीच आने - जाने के लिए होता है। यह उसका प्राइवेट का स्पेस होता है।

लेकिन यह मिलता ही कहां है! इस स्पेस में घुसपैठ, ताकझांक और दखलंदाजी के बहाने तो लोगों को मिलते ही रहते हैं!

एक स्त्री अपनी मुक्ति की कोशिश में बाहर निकलती है और सामाजिक मुक्ति के महाउद्यम में लगे लोगों में शामिल हो जाती है।

ऐसा करके, उसे आंशिक राहत ही मिल पाती है क्योंकि पूरा समाज उसके साथ वही व्यवहार करता है, जो सभी स्त्रियों के साथ करता है।

यही नहीं, अपने जेनुइन मुक्तिकामी साथियों के बीच भी उसे अनेक सूक्ष्म (और कभी-कभी स्थूल भी) स्तरों पर जेण्डर-आधारित भेदभाव और पुरुष वर्चस्ववाद का सामना करना पड़ता है। कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच स्त्री-पुरुष के बीच भेदभाव न होने की धारणा एक आदर्शवादी धारणा है। वस्तुतः वहां भी जेण्डर के प्रश्न पर सतत् सांस्कृतिक क्रांति की प्रक्रिया चलाने की दरकार होती है। अन्यथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के परम्परागत रूप क्रांतिकारी संगठनों पर भी हावी हो जाते हैं और कभी-कभी विकृत विचलन भी देखने को मिलते हैं।

क्रांतिकारियों के भीतर भी प्रायः “घरेलू”, “स्त्रियोचित”, श्रमसाध्य काम स्त्री साथियों के जिम्मे पड़ जाते हैं। इन कामों में पुरुष साथियों की पहलकदमी अक्सर कम होती है और अक्सर उनकी भागीदारी रस्मी या प्रतीकात्मक या मजबूरी भरी होती है। इसतरह परिवार का ढांचा पार्टी के ढांचे में घुसपैठ कर जाता है और विकृति पैदा कर देता है। पुरुष साथी स्त्री साथियों की आलोचना से कई गुना अधिक आहत होते हैं और बदला निकालने के अवसर ढूँढते रहते हैं। कई पुरुष साथियों के व्यवहार से यह साफ लगता है कि आम तौर पर स्त्रियों को वे कमअक्ल समझते हैं। ये न तो आश्चर्य की बातें हैं, न ही छिपाने की। क्रांतिकारियों के समूह इसी समाज से आते हैं और नित्यप्रति इसी समाज में काम करते हैं। उनमें अतीत के अवशेष होते हैं और रोज़मर्रे का सामाजिक परिवेश उन्हें भी प्रभावित करता है। पुरुष स्वामित्ववाद से बाहर ही नहीं, भीतर भी सतत् संघर्ष चलाना अनिवार्य है। ऐसा नहीं होने पर, कभी-कभी

भयंकर दुष्परिणाम भी सामने आ सकते हैं।

एक मॉल में हम घूम रहे थे। वहाँ एक भूतबंगला बना था जिसमें प्रकाश और ध्वनि से डरावना प्रभाव पैदा किया जाता था। लोग टिकट लेकर देखने जा रहे थे। किंशुक ने कहा, “कविता, भूतबंगले में तुम कभी मत जाना।” जब वह बड़ा हो जायेगा तो समझ जायेगा कि स्त्रियाँ भूतबंगले में तो रहती ही हैं। सदियों से वे उससे बाहर निकलने की राह ढूँढ रही हैं।

एक बार जब प्रेम का आवेग खत्म हो गया तो वह दुबारा नहीं आ सकता। रिश्तों में पैबंदसाजी नहीं की जा सकती। पुरुष को तो घर संभालने वाली ‘हाउसकीपर’ की ज़रूरत होती है, लेकिन प्रेम की समापति के बाद स्त्रियाँ क्यों दाम्पत्य को चलाते रहना चाहती हैं? - कभी बच्चों के लिए, कभी समाज क्या कहेगा, इस डर से।

इन्हीं अर्थों, में बुर्जुआ समाज में शादी एक संस्थाबद्ध वेश्यावृत्ति होती है। बिना प्यार के शादी होती है जो दैहिक आकर्षण की समापति के बाद बस कभी-कभार दैहिक क्षुधातृप्ति के काम आती है और आपसी सुविधा का गठजोड़ होती है। जो शादियाँ प्रेम और स्वतंत्र निर्णय आधारित होती हैं, बुर्जुआ समाज का अलगाव वहाँ भी जल्दी ही रिश्तों में ठण्डापन ला देता है और फिर आपसी सहूलियतों का एक गंठजोड़ माल बाक़ी बच जाता है।

एकनिष्ठ प्यार का पैमाना सिर्फ स्त्रियों पर लागू होता है, पुरुष सदा से इस बंधन से स्वतंत्र रहे हैं। अब स्त्रियाँ भी नकारात्मक निराशावादी विद्रोह करते हुए एकनिष्ठता के बंधन तोड़ रही हैं तो पुरुष इस पर चिल्लपों भी मचा रहे हैं और इस स्थिति का फायदा भी उठा रहे हैं।

बुर्जुआ समाज में प्रेम वही कर सकते हैं जो अपने व्यक्तित्व को एलियनेशन से मुक्त कर सकते हों, जो अपने व्यक्तित्व और विचारों को निरंतर नया बनाते हुए अपने आपसी रिश्तों को और प्रेम को भी नया बनाते रह सकते हों। यह बेहद कठिन है। यह उतना ही कठिन है जितना क्रांति करने में आजीवन लगे रहना।

एक क्रांतिकारी कभी समझौता नहीं करता। प्रेम के मामले में भी कभी समझौता नहीं किया जा सकता।

समाजवादी चीन ने स्त्रियों की गुलामी की बेड़ियों को कैसे तोड़ा

श्वेता

आम तौर पर यह माना जाता है कि स्त्रियों का मुख्य काम घर की देखभाल, बच्चों की परवरिश व चूल्हे-चौके को संभालने तक सीमित है। इसके समर्थन में परम्परा और रीति-रिवाज़ का हवाला देकर इसे कुछ यूँ पेश किया जाता है मानो यह कोई प्राकृतिक नियम हो। मज़ेदार बात तो यह है कि ये विचार सिर्फ पुरुषों तक ही नहीं सीमित हैं बल्कि महिलाओं में भी मौजूद हैं। इस तरह स्त्री-पुरुष असमानता और स्त्रियों की दासता को कभी न खत्म होने वाला एक सामाजिक नियम समझ लिया जाता है। लोग यह नहीं समझते कि कोई भी सामाजिक नियम ठोस भौतिक अवस्थाओं से जन्म लेता है और उन अवस्थाओं के बदलने के साथ ही वे नियम भी बदल जाते हैं। कम ही लोग यह जानते हैं कि समाजवादी मुल्कों जैसे रूस (1917-1953) और चीन (1949-1976) (जब तक वहाँ समाजवाद का झण्डा बुलंद था) ने स्त्री-पुरुष असमानता और स्त्रियों की दासता के खात्मे की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल की थीं। पूँजीवाद इन उपलब्धियों पर पर्दा डालने की हरचन्द कोशिशें तो करता ही है पर साथ ही वह कुत्सा-प्रचार की घिनौनी राजनीति का सहारा लेकर इन उपलब्धियों को कलंकित भी करता है। परन्तु मज़दूर वर्ग के लिए तो समाजवादी प्रयोगों के दौरान हासिल तमाम उपलब्धियों का विशेष महत्व है।

आइये ज़रा देखें कि समाजवादी चीन (1949-1976) ने महिलाओं की गुलामी के खात्मे की दिशा में क्या-क्या महत्वपूर्ण क़दम उठाये थे। यह समझने के लिए हमें क्रान्तिपूर्व चीन में महिलाओं की स्थिति पर एक सरसरी निगाह दौड़ानी होगी। वर्ष 1949 में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हुई क्रान्ति से पहले चीन में महिलाओं को तमाम कुप्रथाओं और सड़ी-गली परम्पराओं का दंश झेलना पड़ता था। छोटी उम्र में ही लड़कियों का जबरन ब्याह कर दिया

जाता था। महिलाओं की जिम्मेदारी केवल अपने पतियों की सेवा करने तक सीमित थी। माँ-बाप द्वारा नवजात लड़कियों को मार डालना या भूखा मरने के लिए सड़क के किनारे छोड़ देना आम बात थी। कर्ज़ अदा न कर पाने की सूरत में अक्सर ही किसान अपनी बेटियों को सामंतों को बेचने के लिए मज़बूर कर दिये जाते थे। शहरों में वेश्यावृत्ति के अंडे बड़े पैमाने पर मौजूद थे। क्रान्तिपूर्व चीन में छोटी उम्र की लड़कियों के पैर बाँधने की एक बर्बर प्रथा प्रचलित थी जिसमें लड़कियों के पैरों को बचपन से ही कपड़ों से यूँ बाँध दिया जाता था जिससे कि दोनों पैरों के पंजे जुड़ सकें क्योंकि इसे सुंदरता का प्रतीक समझा जाता था। छोटी बच्चियों के लिए यह बहुत दर्दनाक होता था, अक्सर ही उन्हें दूसरों का सहारा लेकर चलना पड़ता था।

वर्ष 1949 की चीनी क्रान्ति ने महिलाओं को सड़ी-गली परम्पराओं की बेड़ियों से आज़ाद कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। क्रान्ति के एक वर्ष बाद 1950 में एक नया विवाह कानून पारित किया गया जिसके अन्तर्गत महिलाओं को तलाक़ लेने का अधिकार हासिल हुआ जो उससे पहले केवल पुरुषों को हासिल था। जबरिया कराये जाने वाले विवाह, बहुविवाह, बालविवाह की प्रथाओं पर रोक लगा दी गई। महिलाओं को अपना पति चुनने व बच्चा पैदा करने या न करने की पूरी आज़ादी मिली। छोटी बच्चियों के पैर बाँधे जाने जैसी बर्बर प्रथाओं को ख़त्म किया गया। वेश्यावृत्ति का खात्मा करके इस मानवद्रोही व्यवसाय में लगी महिलाओं को नौकरियों के नये अवसर मुहैया कराये गए। महिलाओं को नुमाइश की वस्तुओं की तरह प्रस्तुत करने वाले विज्ञापन प्रतिबंधित किये गए।

चीनी क्रान्ति के बाद महिलाएँ पहली बार घर की चहारदीवारियों से निकलकर फैक्ट्रियों व सामूहिक फ़ार्मों में पुरुषों के साथ मिलकर काम करने लगीं। लाखों की संख्या में महिलाएँ लाल सेना में भी शामिल हुईं। यही नहीं, नौजवान स्त्रियों ने खुद को छोटे-छोटे समूहों में संगठित करके निर्माण के ऐसे कामों को अंजाम दिया जिन्हें परम्परागत रूप से पुरुषों के लिए आरक्षित समझा जाता था। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में महिलाओं को चूल्हे-चौके और बच्चों की परवरिश की घरेलू दासता से मुक्त करने के लिए सामूहिक भोजनालयों और शिशुशालाओं का ताना-बाना रिहाइश के इलाकों एवं फैक्ट्रियों के निकटवर्ती क्षेत्रों में विकसित किया गया। अब महिलाओं को भी समाजवादी चीन के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का पूरा समय मिलने

लगा। इन शिशुशालाओं में बच्चों की देखभाल के लिए नियुक्त किए गए लोगों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था। इस तरह के उपक्रमों से महिलाएँ कितने बड़े पैमाने पर घर की चौहदियों से निकलकर सामाजिक उत्पादन की दुनिया में शिरकत करने लगीं इसका अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि वर्ष 1971 तक 90 प्रतिशत चीनी महिलाएँ घरों से बाहर काम कर रही थीं। कामगार महिलाओं को मातृत्व लाभ की सुविधाएँ (जैसे मातृत्व अवकाश, नवजात शिशुओं को स्तनपान के लिए काम के दौरान 40-60 मिनट की छुट्टी) भी बड़े पैमाने पर उपलब्ध कराई जा रही थीं।

यहाँ यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि समाजवादी चीन (1949-1976) ने महिला मुक्ति के मोर्चे पर जो कुछ भी हासिल किया था उसके मूल में कानूनी परिवर्तन नहीं बल्कि वे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन थे जिन्हें क्रान्ति ने सम्पन्न किया था। यँ तो पूँजीवादी समाजों में भी महिलाओं के लिए कानून बनाये जाते हैं, लेकिन इन कानूनों से मिलने वाले लाभ पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों की वजह से निष्प्रभावी हो जाते हैं और इस तरह पूँजीवाद में कानून होने के बावजूद स्त्रियों की दासता बनी रहती है और स्त्री-पुरुष समानता दूर की कड़ी नज़र आती है।

हालाँकि वर्ष 1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन में देड़ सियाओ पिङ्ग के नेतृत्व में पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो गई। इसके साथ ही महिलाओं की गुलामी का सिलसिला फिर से शुरू हो गया। पूँजीवादी चीन में आज महिलाओं की स्थिति का अंदाज़ा कुछ आँकड़ों से ही लगाया जा सकता है। आज चीन में एक ही जैसे काम के लिए महिलाओं को पुरुषों की अपेक्षा 31 प्रतिशत कम वेतन मिलता है। बेरोज़गारी की दर भी महिलाओं में अधिक है। महिलाओं को विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में काम तलाशने में खासा मुश्किलात का सामना करना पड़ता है। महिलाओं के लिए सेवानिवृत्ति की आयु पुरुषों के मुकाबले 5-10 वर्ष कम है जिससे उन्हें सामाजिक सुरक्षाओं का थोड़ा ही लाभ मिल पाता है। गर्भवती महिलाओं को अक्सर काम से निकाल दिया जाता है, मातृत्व अवकाश की उनकी अर्जियों को भी खारिज कर दिया जाता है। कार्यस्थलों पर महिलाओं के लिए असुरक्षित माहौल का अंदाज़ा 2013 में किए गए एक अध्ययन से ही लगाया जा सकता है जिसके अनुसार दक्षिणी चीन के एक शहर ग्वांगज़ांग की एक फैक्ट्री में 70 प्रतिशत महिलाएँ यौन उत्पीड़न का शिकार पायी गईं।

समाजवादी चीन ने बहुविवाह व कन्या भ्रूण-हत्या जैसी जिन कुप्रथाओं का ख़ात्मा किया था आज वे पूँजीवादी चीन में फिर से सिर उठा चुकी हैं। चीन में तेज़ी से बढ़ रही लैंगिक असमानता का आलम यह है कि एक आकलन के मुताबिक वर्ष 2020 तक चीन में पुरुषों की संख्या महिलाओं की संख्या से 3 करोड़ अधिक होगी। महिलाएँ बड़े पैमाने पर घरेलू हिंसा व बलात्कार जैसे घृणित अपराधों का शिकार हैं। ग़ौरतलब है कि स्वास्थ्य सुविधाओं के निजीकरण से मँहगे होते दवा-इलाज की पहुँच आम मज़दूर आबादी से तो दूर हुई ही है परन्तु इसका सबसे अधिक कहर तो ग़रीब महिलाओं पर ही पड़ा है। चीन में कामगार महिलाओं का 70 प्रतिशत हिस्सा कपड़ों, खिलौनों एवं इलेक्ट्रॉनिक सामानों के उद्योगों में लगा हुआ है। आवास सुविधाएँ न उपलब्ध होने के कारण ये महिलाएँ डॉरमेंट्रियों में रहने को मज़बूर होती हैं जहाँ की परिस्थितियाँ अस्वस्थकर होने की वजह से अक्सर ही उन्हें बीमारियों का कहर झेलना पड़ता है। वर्ष 2009 में इन डॉरमेंट्रियों में रहने वाली 20,000 महिलाएँ बीमार पड़ीं जिनकी ज़रा भी सुध सरकार ने नहीं ली।

आज अगर चीन में महिलाओं की ग़ैर-बराबरी की स्थिति फिर से पैदा हुई है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। 1976 में माओ की मृत्यु के बाद चीन में समाजवाद के ख़ात्मे के साथ ही पूँजीवादी सामाजिक व आर्थिक सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गए। निजी स्वामित्व पर टिके पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में स्त्रियों की गुलामी अन्तर्निहित है। चीनी क्रान्ति ने एक छोटे से कालखण्ड में निजी स्वामित्व की व्यवस्था का नाश करके महिलाओं को गुलामी की बेड़ियों से बाहर निकालकर साबित कर दिया कि स्त्रियों की सच्ची मुक्ति तो केवल समाजवादी समाज में ही संभव है।

मज़दूर बिगुल, मार्च 2015

रूस की स्त्रियाँ

सुर्यकान्त त्रिपाठी निराला

रूस ने नारी जीवन में एक क्रान्ति की लहर उत्पन्न की है। बोलशेविक क्रान्ति के पहले वहाँ स्त्रियों के साथ अत्यन्त अमानुषिकता का व्यवहार किया जाता था, उनकी दशा बड़ी ही शोचनीय थी। रूस के यार्कुटस्क प्रान्त में तो स्त्रियों के बेचने तक का व्यवसाय होता था। इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिए हम यहाँ एक प्रकाशित लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं –

“रूस में यार्कुटस्क एक प्रान्त का नाम है। यह प्रान्त क्षेत्रफल के हिसाब से बहुत बड़ा है इसी प्रान्त में पहले स्त्रियों के बेचने का व्यवसाय होता था। स्त्रियों का मूल्य, उनकी अवस्था और सुन्दरता के अनुसार, तीस-बत्तीस पौण्ड आटा से लेकर तीस-चालीस पौण्ड मक्खन तक होता था। सुन्दर से सुन्दर स्त्रियाँ रूस के इस प्रान्त में थोड़े से दामों अथवा अनाज के बदले में मोल ले ली जाती थीं। इन खरीदी हुई स्त्रियों का उनके मालिकों के ऊपर कोई अधिकार न होता था। खरीदार मालिक उन्हें स्त्री बनाता, उनसे मजदूरी करवाता और भोजन-वस्त्र देकर उनका पालन-पोषण करता था। इसके पश्चात् वह खरीदार, कुछ दिनों के पीछे, जब चाहता था, उस खरीदी हुई स्त्री को बेच सकता था। उस समय, जब लड़कियाँ अपने माँ-बाप के यहाँ रहती थीं, उनको अपने जीवन का कुछ ज्ञान न होता था। वे नहीं जानती थीं कि कब, कहाँ और किसके हाथों बेच दी जायेंगी, और इस प्रकार उनको अपने माता-पिता का घर छोड़कर चला जाना पड़ेगा। लड़कियों के माता-पिता उनके सयानी होने की प्रतीक्षा करते और सयानी हो जाने पर यथासम्भव अधिक मूल्य में बेचने का प्रयत्न करते थे। इन अभागिनी लड़कियों को अपने माता-पिता के घरों में भी कुछ सुख-सन्तोष न मिलता था।”

रूस की वैवाहिक प्रथा और भी अधिक चिन्तनीय थी। लड़कियाँ अपने पिता के हाथों में कठपुतलियों की भाँति थी। उन्हें विवाह के सम्बन्ध में कोई भी अधिकार प्राप्त न था। पिता मनमाना धन लेकर जिनके साथ चाहे उनका विवाह कर देता, वे चूँ तक न कर सकती थीं। अपने वैवाहिक जीवन में उन्हें

‘पति की मोल ली हुई दासी’ की तरह रहना पड़ता था। खाना पकाना, पानी भरना, वस्त्र धोना, कपड़े सीना, बच्चों का पालन-पोषण करना और खेतों में काम करना-यही उनका रोज का कार्यक्रम था। सब प्रकार पति को प्रसन्न रखना उनका एकमात्र लक्ष्य था। तनिक से अपराध पर पुरुष उन्हें कड़े से कड़ा दण्ड दे सकते थे। वे कहीं भाग न सकती थीं। और, यदि भागतीं, तो पुलिस उन्हें पकड़कर पुनः पतियों के हाथों सुपुर्द कर देती थी। पुरुषों को विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद का पूर्ण अधिकार था। वे उन्हें तनिक सी बात पर नाराज होकर त्याग सकते थे। विरोध करना तो दूर की बात, वे निगाह भी ऊपर न कर सकती थी। पुरुषों की सत्ता के सम्मुख उन्हें अपनी समस्त इच्छाओं की बलि दे देनी पड़ती थी।

इस नारकीय दाम्पत्य जीवन की दुरवस्थाओं के कारण समाज में सर्वत्र व्यभिचार बढ़ गया था-वे समाज की आँखों में धूल झोंक अपने सतीत्व को नष्ट करती थीं। व्यभिचार द्वारा उत्पन्न बच्चे नदी-नालों, तालाबों आदि जगहों पर फेंक दिये जाते थे। वेश्यालयों के अतिरिक्त कुछ ऐसे स्थान होते थे, जहाँ जवान, खूबसूरत बालिकाएँ घृणित उपायों द्वारा सतीत्व से भ्रष्ट की जाती थीं। ऐसे गुप्त संकेत स्थल ‘लिटिल कैडल क्लब’ के नाम से प्रख्यात थे। जब किसी स्त्री का दुष्चरित्र प्रकट हो जाता, तो वह अपने घर से निकाल दी जाती थी, परन्तु व्यभिचारी, कामान्ध युवकों को कोई भी दण्ड न मिलता था।

रूस के इस कुत्सित, अत्याचारपूर्ण जीवन का अन्त आखिर में होकर रहा। यहाँ की भीषण बोल्शेविक राज्य क्रान्ति ने दीन-दलितों का ही उत्थान नहीं किया, वरन वहाँ की स्त्रियों में भी अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न कर दी। आज रूस की स्त्रियों को संसार में अपना मस्तक ऊँचा करने का श्रेय प्राप्त है। उनकी नस-नस में विद्युत की सी शक्ति प्रवाहित हो चुकी है। क्रान्ति के बाद सोवियत सरकार ने स्त्री-पुरुष के समान अधिकार घोषित किये। स्त्रियों में शिक्षा प्रचार के लिए भरसक यत्न किया गया। उनमें जागृति उत्पन्न करने के लिए रूस में विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ बनायी गयीं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ। उनकी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक उन्नति के लिए व्यायामशालाओं, क्लबों तथा पुस्तकालयों का आयोजन किया गया। देहातों में भी इन सब बातों का समुचित प्रबन्ध किया गया। कुछ ही दिनों में वहाँ की स्त्रियों का जीवन नवीन प्रस्फुटित कलियों की भाँति विकसित हो उठा। शिक्षा प्राप्त स्त्रियाँ स्कूलों, दफ्तरों, कारखानों तथा अन्य स्थानों में पुरुषों के साथ-साथ समान

रूप से, उत्साहित होकर काम करने लगीं। वे निर्भय तथा स्वावलम्बी होकर रहना पसन्द करने लगीं। प्रत्येक स्त्री पत्न-पत्निकाओं का पढ़ना, भिन्न-भिन्न कार्यवाहियों में भाग लेना तथा वाचनालयों में जाना अपना अनिवार्य कार्य समझने लगी। देहात की स्त्रियों की उन्नति के लिए भी पूर्ण प्रयत्न किया गया। उनको सब प्रकार की सुविधाएँ दी गयीं। खेती की उन्नति के लिए कृषि संस्थाएँ खोली गयीं, और नागरिक सभाओं तथा शासन सम्बन्धी पंचायतों से उन्हें पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। फलतः देहातों में भी स्त्री जीवन तथा स्त्री व्यवसायों की व्यवस्था में नवीनता प्राप्त हुई। कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों और लड़कियों की उन्नति का भी काफी प्रयत्न किया गया। उनके लिए ट्रेड्स स्कूल खोले गये जहाँ उन्हें कारखानों के काम में विशेष योग्यता प्राप्त करने का समुचित प्रबन्ध किया गया। आजकल तो वे कारखानों में काम करने के समय में से आधा समय निकालकर इन स्कूलों में काम सीखती हैं। उन्हें छात्रवृत्ति भी मिलती है। इन सुविधाओं के कारण वे स्त्रियाँ, जो मज़दूरी करके कठिनता से जिन्दगी बिताती थीं, अधिक उपकृत हुईं।

सोवियत सरकार ने स्त्रियों के घरेलू जीवन में भी एक क्रान्ति पैदा की है। स्त्रियों का बहुत-सा अमूल्य समय बाल-बच्चों के पालन-पोषण में ही निकल जाता था, और वे अपने सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को सुदृढ़ तथा समुन्नत नहीं बना सकती थीं। उनका बहुत-सा समय गार्हस्थिक चिन्ताओं में ही बीत जाता था। देश और समाज के लिए वे कुछ भी न कर सकती थीं। इस महान दोष से देश को मुक्त करने के लिए सोवियत सरकार ने बच्चों के पालन-पोषण और उनकी शिक्षा-दीक्षा का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। महात्मा लेनिन के कथनानुसार घर तथा बाहर, दोनों ही जिम्मेदारी स्त्री-पुरुष पर समान रूप से पड़ी। स्त्रियों ने पुरुषों के समान अपने अधिकार प्राप्त किये और अब रूस के कोने-कोने में साम्यवादी सिद्धान्त का प्रभाव दिखलायी पड़ रहा है। सोवियत सरकार ने देश में ऐसे आश्रम बनाये हैं, जहाँ देश के प्रत्येक बच्चे का पालन-पोषण अत्यन्त ध्यानपूर्वक होता है। हर एक स्त्री-पुरुष अपने बच्चे को, पैदा होते ही, आश्रम में भेज देता है। वहाँ सब बच्चे स्वस्थ, निरोग, शिक्षित तथा योग्य बनाये जाते हैं। माता-पिता स्वच्छन्दतापूर्वक अपना और काम देख सकते हैं। उन्हें अपने बच्चों के लालन-पालन की कोई फिक्र नहीं करनी पड़ती। रूस की नयी सरकार इन बच्चों को देश और समाज का अंग और उनकी स्थायी सम्पत्ति समझती है। यही कारण है, रूस की शक्ति दिन

पर दिन बढ़ रही है। अब कोई युवती कौमार्य अवस्था में पुत्रवती हो जाने से तिरस्कृत नहीं की जाती। उसकी वह सन्तान भी शिशुगृह में सावधानी से पाली जाती और बड़ी होने पर उसी की सन्तान कहलाती है। उसे इस भूल के लिए आजीवन कष्ट नहीं झेलना पड़ता।

रूस की वर्तमान सोवियत सरकार ने वेश्यावृत्ति को अत्यन्त गहिर्त कर्म करार दिया है। वह उसके विरुद्ध बड़ा प्रबल आन्दोलन कर रही है। समाजप्रेमी स्त्री-पुरुष उसको निर्मूल करने के लिए जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। रूस में स्वास्थ्य और सदाचार के प्रसार के लिए बड़ी-बड़ी सभाएँ कायम की गई हैं। उन्हीं सभाओं के अन्तर्गत 'वेश्यावृत्ति विरोधिनी केन्द्रीय समिति' (The central council to combat prostitution) की स्थापना की गयी है। इसका फल यह हुआ कि अब रूस में वेश्याओं की संख्या दिन-पर-दिन घट रही है, और वेश्यावृत्ति की भावना भी धीरे-धीरे नष्ट हो रही है।

इस प्रकार रूस में शिक्षा, सभ्यता, देशप्रेम और सदाचार का प्रचार दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है। सब स्त्री और पुरुष बिना किसी भेदभाव के सामूहिक रूप से सामाजिक तथा राष्ट्रीय नियंत्रण में दत्तचित्त हो रहे हैं। वे लोग इस मूल-मंत्र को समझ गये हैं कि-“पुरुष और स्त्री का जीवन पूर्ण स्वतंत्रता और पूर्ण सहकारिता के भावों से ओत-प्रोत है।” तात्पर्य यह कि “स्त्री-पुरुष फूल और पौधे की तरह परस्पर सम्बद्ध हैं। वे परस्पर विचारों की स्वाधीनता की निर्मल वायु में प्रेम और समुन्नति की वर्षा और धूप में ही, पनप सकते हैं।” अतः हमारी भारतीय ललनाओं का यह कर्तव्य है कि वे भी रूस की स्त्रियों की भाँति उन्नतिशील बनें और जहरीले अन्ध-परम्परा के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर वास्तविकता और शिक्षा की ओर अप्रतिहत वेग से अग्रसर हों, इसी में समाज तथा देश का कल्याण है।

[‘सुधा’, मासिक, लखनऊ, जुलाई 1935 (सम्पादकीय)]

मज़दूर बिगुल, जनवरी 2015

प्रवासी स्त्री मज़दूर: घरों की चारदीवारी में कैद आधुनिक गुलाम

लता

अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) के अनुसार विश्व स्तर पर होने वाले मज़दूरों के प्रवास में स्त्री मज़दूरों का हिस्सा आधे के बराबर है। लेकिन श्रम के चरित्र के निर्धारण में प्रवासी स्त्री मज़दूरों के पास विकल्प न के बराबर है और ये जिस देश में जाती हैं वहाँ भी श्रम विभाजन में लिंग भेद का प्रत्यक्ष सामना करती हैं। उनके हिस्से वही काम आता है जिसे परम्परागत रूप से औरतों के काम का दायरा समझा जाता है-साफ़-सफ़ाई, खाना बनाना, कपड़े धोना, बच्चों-बुजुर्गों की देखभाल आदि घरेलू कामकाज। घरेलू श्रम, श्रम का सबसे अनुत्पादक, उबाऊ और थकाने वाला स्वरूप होता है। घरों में मानो यह प्राकृतिक तौर पर स्थापित है कि ये काम घर की औरतें ही करेंगी। लेकिन आज पूँजीवाद के भूमण्डलीकरण के इस दौर में धनी देशों का एक बड़ा तबक्का और विकासशील देशों का भी एक तबक्का निजीकरण और नवउदारवादी नीतियों का फ़ायदा उठाकर जीवन के सारे ऐशो-आराम और ऐश्वर्य के मज़े लूट रहा है। वह तबक्का अपने वर्ग की औरतों के लिए 'सापेक्षिक' आज़ादी ख़रीदने की क्षमता रखता है और उन्हें इन घरेलू कामकाज से मुक्त करने के लिए दूसरों का श्रम ख़रीदता है। जैसाकि पहले ही कहा गया है कि घरेलू श्रम, श्रम का सबसे अनुत्पादक, बर्बर, उबाऊ और थकाने वाला स्वरूप है, लेकिन बाहर से ख़रीदे जाने पर अक्सर यह बर्बरता का भीषणतम रूप अख़्तियार कर लेता है। श्रम का यह स्वरूप अपने घरेलू दायरे की वजह से सर्वाधिक असुरक्षित और असंगठित क्षेत्र बनकर रह जाता है। घरेलू श्रम की सुरक्षा के लिए क़ानून न के बराबर हैं और जो हैं भी उनका लागू होना कठिन है।

घरेलू श्रम के रूप में प्रवासी मज़दूरों की स्थिति और भी असुरक्षित हो जाती है। सभी विकसित देशों में आप्रवासन क़ानूनों के ज़्यादा कठोर होने की वजह से ये घरेलू मज़दूर अपने मालिकों से पूरी तरह बँधे होते हैं और बचकर भाग निकलने की स्थिति में उन्हें देशनिकाला का सामना करना पड़ता है। दूसरे देश

जाकर काम करने के लिए वीज़ा, पासपोर्ट और यात्रा में होने वाले खर्चों के लिए ये अक्सर स्थानीय सूदखोरों से भारी कर्ज़ लेते हैं जिसकी भरपाई नहीं होने पर इनके लिए अपने देश वापस जाना बेहद कठिन होता है। उन्हें पता होता है कि उनकी नौकरी घर के छोटे भाई-बहनों या बेटे-बेटियों के भोजन का, बूढ़े या बीमार माँ-बाप के पोषण-इलाज का एकमात्र ज़रिया है। इसलिए मालिकों द्वारा दी जाने वाली शारीरिक-मानसिक प्रताड़नाओं को सहने के अलावा इनके पास कोई और चारा नहीं रहता। वैसे तो खाड़ी देशों से लेकर विकसित देशों तक सभी जगह प्रवासी मज़दूरों की स्थिति गुलामों की तरह ही है। लेनिन ने 1913 में एक लेख लिखा था 'सभ्य यूरोपीय और बर्बर एशियाई', जिसमें तथाकथित सभ्य यूरोपीय समाज के ऊपर कटाक्ष किया था। इसमें उन्होंने बताया कि रंगून में एक ब्रिटिश कर्नल ने घर में काम करने वाली एक 11 साल की लड़की का बलात्कार किया था। इसके बाद जज ने कर्नल को ज़मानत दे दी और कर्नल ने अपने खरीदे गवाहों से यह सिद्ध किया कि वह 11 साल की लड़की वेश्या है और फिर जज ने कर्नल को केस से पूरी तरह बरी कर दिया।

घर में काम करने वाले मज़दूरों की स्थिति हमेशा से ही ख़राब रही है, लेकिन आज जब पूँजीवाद अपने सबसे अनुत्पादक और परजीवी चरण में पहुँच गया है और इसने मानवीय मूल्यों के क्षरण और पतन की सारी सीमाएँ तोड़ दी हैं तो इन परिस्थितियों में समाज का सर्वाधिक कमज़ोर और अरक्षित हिस्सा जैसे बच्चे, औरतें और घरों में काम करने वाले आदि इस क्षरण और पतन का शिकार सबसे ज़्यादा होता है। घरों में काम करने वाले स्त्री-पुरुषों के साथ मार-पीट, गालियाँ, यौन उत्पीड़न बेहद सामान्य है लेकिन पिछले एक दशक से स्त्री मज़दूरों में जो ज़्यादातर घरेलू नौकरानी का काम करती हैं, उनमें काम की जगह से भागने के दौरान मौत या आत्महत्या की घटनाएँ बहुत अधिक बढ़ी हैं। इस उत्पीड़न से बच निकली स्त्रियों के लिए लेबनान तथा यूरोप के कई देशों में कुछ आश्रय गृह बने हैं। ब्रिटेन के आश्रयगृह में रहने वाली एक औरत का कहना है कि वह भाग्यशाली है कि वह बच निकली लेकिन उसके जैसी हज़ारों-हज़ार ऐसी औरतें हैं जो चुपचाप यह अत्याचार और उत्पीड़न झेल रही हैं और उनके पास बच निकलने का कोई रास्ता भी नहीं है।

आइएलओ के अनुसार स्त्री मज़दूरों के प्रवास और घरेलू श्रम के बीच स्पष्ट सम्बन्ध है। प्रवासी मज़दूर औरतें मुख्यतः घरों में काम करने के लिए विदेश जाती हैं। भारत, चीन, फ़िलिपींस, श्रीलंका, कम्बोडिया, बर्मा, सब-सहारा

अफ्रीका के देशों से मज़दूर स्त्रियाँ खाड़ी देशों, चीन, मलेशिया, सिंगापूर, थाइलैण्ड आदि देशों में घरेलू नौकरानी का काम करने के लिए जाती हैं तथा अमेरिका में इन देशों के अलावा भारी तादाद में लातिन अमेरिका के देशों से औरतें घरेलू काम के लिए जाती हैं। इसके अलावा कई औरतों को घरेलू काम दिलाने का वायदा करके ले जाया जाता है और उन्हें जबरन वेश्यावृत्ति में धकेल दिया जाता है। मानव तस्करी की शिकार औरतें भी वेश्यावृत्ति के जाल में फँस जाती हैं।

खाड़ी देशों में कम से कम 146,000 प्रवासी घरेलू कामगार हैं जिनमें से ज़्यादातर एशिया और अफ्रीका के देशों से हैं। अन्य प्रवासी मज़दूरों की तरह ये घरेलू मज़दूर औरतें भी अपने मालिकों से 'कफ़ाला व्यवस्था' से बँधी होती हैं। इस व्यवस्था के अनुसार अपना कॉन्ट्रैक्ट पूरा होने तक मज़दूर अपने मालिक या एजेण्ट से बँधा होता है। वह किसी भी हालत में काम नहीं छोड़ सकता, न ही कॉन्ट्रैक्ट तोड़ सकता है। यहाँ तक कि अपने देश वापस आने की भी इजाज़त मालिक की रज़ामन्दी पर ही मिलती है। इस व्यवस्था की वजह से ज़्यादातर मज़दूर औरतें हिंसा, उत्पीड़न और अत्याचार भरे माहौल में जकड़कर रह जाती हैं। 'कफ़ाला व्यवस्था' संयुक्त अरब अमीरात में आने वाले सभी स्त्री-पुरुष मज़दूरों पर लागू होती है, लेकिन घर की चारदीवारी में बन्द किसी मज़दूर औरत को यह व्यवस्था बिल्कुल अलगाव में डाल कर, निराश, हताश और असुरक्षित कर देती है। ह्यूमन राइट वाच (एचआरडब्ल्यू) ने संयुक्त अरब अमीरात में घरेलू काम करने वाली 99 औरतों का साक्षात्कार लिया गया था, इस रिपोर्ट के अनुसार विश्व के सबसे अमीर देश में इन घरेलू मज़दूर औरतों को बिना आराम लगभग 21 घण्टों तक काम करना पड़ता है, बेहद कम या लगभग न के बराबर भुगतान किया जाता है, ज़्यादातर को खाने को पर्याप्त नहीं मिलता, पिटाई आम बात है, कहीं भी आने-जाने पर पाबन्दी होती है, कड़ियों का यौन उत्पीड़न होता है और लगभग सभी का पासपोर्ट ज़ब्त कर लिया जाता है। मज़दूर अधिकारों के हनन और अपनी 'कफ़ाला व्यवस्था' के लिए कुख्यात संयुक्त अरब अमीरात अब अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रबन्ध मण्डल (गवर्निंग बोर्ड) का प्रभावी सदस्य होने जा रहा है।

गार्डियन अख़बार के डैन मैकडगॉल ने मध्य एशिया से लेकर ब्रिटेन तक में घरेलू स्त्री मज़दूरों के शोषण और उत्पीड़न पर एक रिपोर्ट बनायी है, जिसमें उन्होंने दिखाया है कि घरेलू स्त्री मज़दूरों की मृत्यु की बढ़ती घटनाएँ जिसे मध्य

एशिया की सरकारें आत्महत्या कहकर केस बन्द कर देती है, वास्तव में वह या तो मालिकों द्वारा की गयी हत्या होती है या बेहद असह्य, बर्बर और अमानवीय काम की परिस्थितियों से बचकर भागने की कोशिश में हुई मौत होती है। यदि ये किसी तरह भाग भी निकलती हैं तो पुलिस इन्हें पकड़कर वापस मालिकों तक पहुँचा देती हैं। इसके अलावा यहाँ नौकरों के लिए कोई श्रम क़ानून नहीं है। 2012 में एक इथियोपियाई नौकरानी को लेबनान में सड़क पर बुरी तरह पीटा गया, एजेण्ट उसे ज़बरन वापस भेजना चाहते थे। राहगीर बस देख रहे थे, लेकिन कोई भी इस महिला को बचाने के लिए आगे नहीं आया। पुलिस द्वारा अस्पताल पहुँचाने के दो दिनों बाद इस महिला ने अस्पताल में आत्महत्या कर ली। वह महिला वापस अपने देश नहीं जा सकती थी और क़फ़ाला व्यवस्था की वजह से वह कहीं और काम नहीं कर सकती थी। समझा जा सकता है कि 'क़फ़ाला व्यवस्था' मज़दूरों को किस कदर हताश-निराश छोड़ देती है। मगर यह व्यवस्था यदि हट भी जाये तो भी घरेलू मज़दूरों की स्थिति में ख़ास परिवर्तन की अपेक्षा नहीं की जा सकती है, क्योंकि मध्य एशिया में घरेलू मज़दूरों के लिए कोई क़ानूनी अधिकार नहीं हैं।

यूरोप में मज़दूरों के लिए दर्ज क़ानूनी अधिकार के सम्बन्ध में भी प्रवासी मज़दूरों की स्थिति को लेकर गहरी उदासीनता है और प्रवासी घरेलू मज़दूरों की चर्चा न के बराबर है। यूरोप में भी घरेलू मज़दूरों की स्थिति भी विश्व के अन्य हिस्सों जैसी ही है, बर्बर, अमानवीय गुलामों सी। वर्तमान समय में ब्रिटेन में घरेलू मज़दूरों की माँग विश्व के किसी भी हिस्से से सबसे ज़्यादा है। डैन मैकडगॉल की ही रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटेन में 86 प्रतिशत घरेलू मज़दूरी करने वाली प्रवासी स्त्रियों को 16 घण्टे से ज़्यादा काम करना पड़ता है, 71 प्रतिशत को भोजन न के बराबर मिलता है, 32 प्रतिशत के पासपोर्ट जब्त कर लिये गये हैं और 32 प्रतिशत के साथ शारीरिक और यौन उत्पीड़न होता है।

मई-जून 2014 में लातिन अमेरिका के गरीब और पिछड़े देश जैसे एल सल्वादोर, होंडुरास आदि देशों में माफ़्रिया और एजेण्टों ने यह अफ़वाह उड़ा दी कि अमेरिकी सरकार छोटे बच्चों वाली और गर्भवती महिलाओं के प्रति सहानुभूति दर्शाते हुए उन्हें अमेरिकी नागरिकता दे रही है। गरीबी और बेरोज़गारी की मार झेल रही कई लातिनी महिलाएँ बेहतर ज़िन्दगी की उम्मीद में उनके पास जो कुछ भी था, उसे एजेण्ट के कमीशन और यात्रा के खर्च पर फूँककर अमेरिका-मेक्सिको बॉर्डर पार करने चली आयीं। यहाँ आकर उन्हें

सच्चाई का पता चला और अब वे अधर में हैं। यदि वे वापस चली भी गयीं तो उनके पास कुछ भी बचा नहीं है। अब पकड़े जाने पर उनके पास अमेरिका में रहने का कोई उपाय नहीं। वहीं अचानक से आयी औरतों और बच्चों की इस बाढ़ को देखकर ओबामा ने सीमा क्षेत्र पर सुरक्षा और सख्त करने का ऐलान किया है।

लातिन अमेरिका से आयी गैर-क़ानूनी प्रवासी औरतों की जीवन परिस्थितियाँ भी पुरुषों के समान ही कठिन होती हैं, लेकिन इस आबादी के बड़े हिस्से को विकल्पहीनता की स्थिति में या ज़बरदस्ती वेश्यावृत्ति या नशीले पदार्थों की बिक्री के व्यापार में धकेल दिया जाता है। गैर क़ानूनी आप्रवासी मज़दूर जिसमें औरतें भी शामिल हैं सर्वाधिक श्रमसाध्य काम करते हैं और उन्हें बेहद कम या न के बराबर मेहनताना मिलता है।

अमेरिका में भी घरेलू मज़दूरों की स्थिति विश्व के बाक़ी हिस्सों जैसी ही है। यहाँ भी घरेलू काम ज़्यादातर फ़िलिपींस, इण्डोनेशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका से आयी औरतें ही करती हैं। कई ऐसी घटनाएँ सामने आयी हैं जिनमें घरेलू मज़दूरों को बिना पगार क़ैद करके सालों काम करवाया गया। ऐनी जॉर्ज नाम की एक महिला ने एक गैर-क़ानूनी प्रवासी महिला को 5 सालों तक अपने बँगले में क़ैद कर गुलामों की तरह खटाया था। यह कोई अकेली घटना नहीं है, इसके अलावा प्रवासी औरतें जो क़ानूनी तौर पर घरों में काम करती हैं, उनकी स्थिति कोई ख़ास बेहतर नहीं है। ये भी बिना छुट्टी पूरे-पूरे सप्ताह 16 से 18 घण्टे काम करती हैं, खाने को कम और सोने की उचित जगह भी नहीं मिलती है।

28 फ़रवरी 2014 को हॉंगकॉंग शहर में सैकड़ों प्रवासी घरेलू स्त्री मज़दूरों ने अपने अधिकारों के लिए एक प्रदर्शन किया। आईएलओ की रिपोर्ट के अनुसार पूरे विश्व में घरेलू मज़दूरों के माल 10 प्रतिशित हिस्से को न्यूनतम मज़दूरी मिलती है। जापान और कोरिया जैसे देशों में जहाँ न्यूनतम मज़दूरी लागू की जाती है, वहाँ भी घरेलू मज़दूर न्यूनतम मज़दूरी के दायरे से बाहर रह जाते हैं। वैसे घरेलू मज़दूर जो किसी एक मालिक के लिए काम नहीं करते और जो मालिक के साथ नहीं रहते, उनके लिए अपने क्षेत्र के बाक़ी मज़दूरों के साथ मिलकर न्यूनतम मज़दूरी और काम की परिस्थितियों में सुधार के लिए संघर्ष कर पाना थोड़ा आसान होगा। लेकिन किसी दूसरे देश से आकर 24 घण्टे

मालिक के साथ रहने वाली प्रवासी स्त्री मज़दूरों की स्थिति बेहद कठिन होती है, क्योंकि वे समाज के बाक़ी हिस्सों से कटी हुई होती है। यदि कोई सम्पर्क भी हो तो भाषाई और संस्कृति भेद की वजह से दूरी बनी रहती है।

यह व्यवस्था जो ग़रीबों को अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर अनजान शहर और देश की ओर प्रवास करने के लिए मजबूर करती है, मज़दूर के शरीर के एक-एक कतरे को निचोड़ने के लिए रोज़ नये-नये दाँत तेज़ करती है, वह एक-दो क़ानून बना भी दे तो वह हाथी के दिखाने के दाँत होंगे। इसके अलावा घर की चारदीवारी के अन्दर किसी भी क़ानून का प्रभावी ढंग से लागू हो पाना असम्भवप्राय है। कहा जा सकता है कि इन क़ानूनों की स्थिति भी भारत में दहेज़ या घरेलू हिंसा के खिलाफ़ बने क़ानूनों की तरह ही होगी। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हक़ों के लिए लड़ा नहीं जाये। पहले तो इन क़ानूनों को बनाने के लिए संघर्ष करना ही होगा, इस असुरक्षित, घरों में कैद मज़दूर आबादी को क़ानूनी हक़ के दायरे में लाया जाना बेहद ज़रूरी है।

जब तक ऐसा कोई समाज अस्तित्व में नहीं आता जो घरेलू काम से औरतों को मुक्त नहीं करता और इन कामों को घर की चारदीवारी से निकालकर समाज की ज़िम्मेदारी नहीं बना देता, घरेलू दायरे में होने वाले उत्पीड़न या हिंसा से समाज को और औरतों को मुक्त नहीं किया जा सकता। हमें लेनिन के उस कथन को नहीं भूलना चाहिए, जिसमें उन्होंने कहा था कि औरतों की मुक्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक उन्हें चूल्हे-चौके और बच्चों के परवरिश से मुक्त नहीं किया जाता। इन सारे कामों के पूरा करने की ज़िम्मेदारी समाज को लेनी होगी, तब ही सही मायने में औरतों की मुक्ति की ज़मीन तैयार होगी। 1917 की रूस की सर्वहारा क्रान्ति ने यह कर दिखाया था, औरतों को चूल्हे-चौके की गुलामी से मुक्त किया और कई ऐसे स्त्री विरोधी क़ानूनों को ख़त्म कर नये क़ानून बनाये गये और उन्हें लागू किया गया जिससे सही मायनों में औरतों को समाज में समान हक़ और अधिकार मिले। औरतें सही मायने में आज़ाद हुईं।

मज़दूर बिगुल, जनवरी 2015

घरेलू कामगार स्त्रियाँ: हक से वंचित एक बड़ी आबादी

शाकम्भरी

घरों में काम करने वाली महिलाओं, लड़कियों पर अत्याचार, शोषण की घटनाएँ हमें आये दिन देखने और सुनने को मिलती है। मध्यवर्गीय परिवारों, नौकरीशुदा स्त्रियों के घरों में घरेलू काम में “सहायक” के तौर पर काम करने वाली रखी जाती हैं। अपनी जीविका चलाने के लिए ये दूसरों के घरों में काम करने के लिए मजबूर हैं। उनका सिर्फ आर्थिक शोषण ही नहीं होता। उनके साथ होने वाली हिंसा, यौन शोषण, दुर्व्यवहार, अमानवीयता की ख़बरें जितनी सामने आती हैं, उससे सैकड़ों गुना ज़्यादा वास्तव में होती हैं।

देश में लाखों घरेलू कामगार स्त्रियों के श्रम को पूरी तरह से अनदेखा किया जाता है। हमारी अर्थव्यवस्था के भीतर घरेलू काम और उनमें सहायक के तौर पर लगे लोगों के काम को बेनाम और न दिखाई पड़ने वाला, गैर उत्पादक की श्रेणी में रखा जाता है। सदियों से चली आ रही मान्यता के तहत आज भी घरेलू काम करने वालों को नौकर/नौकरानी का दर्जा दिया जाता है। उसे एक ऐसा व्यक्ति माना जाता है जो मूल कार्य नहीं करता बल्कि मूल कार्य पूरा करने में किन्हीं तरीकों से मदद करता है। इस वजह से उनका कोई वाजिब मेहनताना ही तय नहीं होता। मालिकों की मर्ज़ी से बख़्शीश ज़रूर दी जाती है। यह मनमर्ज़ी का मामला होता है अधिकार का नहीं। मन हुआ या खुश हुए तो ज़्यादा दे दिया और नहीं तो बासी सड़ा भोजन, फटे-पुराने कपड़े, जूते, चप्पल दे दिया जाता है। देश की अर्थव्यवस्था में घरेलू कामगारों के योगदान का कभी कोई आकलन नहीं किया जाता। उल्टे इनको आलसी, कामचोर, बेईमान, गैर-ज़िम्मेदार और फ़ायदा उठाने वाला समझा जाता है।

घरों में काम करने वाली महिलाओं की श्रमशक्ति की एक बड़ी आबादी बिना कामगार का दर्जा पाये काम करने के लिए मजबूर है। काम से जुड़े उनके अधिकारों की सुरक्षा के लिए कोई भी क़ानून नहीं है और जो भी थोड़ा-बहुत

है भी तो वह लागू नहीं होता। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) के अनुसार जीविका के लिए भारत में दूसरे घरों में काम करने वाली महिलाओं की संख्या एक करोड़ के आसपास है। इनकी संख्या देश में तेजी से बढ़ रही है। संयुक्त परिवार खत्म हो रहे हैं। एक व्यक्ति की आय से घर चलाना मुश्किल होता जा रहा है, पति-पत्नी दोनों के ही बाहर काम करने की वजह से बच्चों और बुजुर्गों की देखभाल के लिए परिवार के सदस्य मौजूद नहीं होते। ऐसे में इनकी देखभाल के लिए भी घरेलू कामगारों को काम पर रखने की ज़रूरत पड़ती है। और मध्यवर्ग का एक तबका ऐसा भी है जिन्हें अपने स्टेट्स सिंबल और अपनी काहिली की वजह से भी इन्हें काम पर लगाना होता है।

नौकर नहीं कामगार का दर्जा मिलना चाहिए

कामगार होने के बावजूद औपचारिक रूप से क़ानूनी हक से वंचित श्रमशक्ति की यह बड़ी संख्या कई चुनौतियों को झेल रही है। संगठन के अभाव में इनकी माँगें सार्वजनिक नहीं हो पातीं। काम के लिए मोलभाव करने की ख़ास ताकत अगर कामगार होने की एक पहचान है तो यह इस ताकत से भी वंचित हैं। काम के दौरान जोखिम से गुज़रती इन स्त्रियों को अपने काम से जुड़ी क़ानूनी सुरक्षा, छुट्टी, मातृत्व अवकाश, बच्चों का पालनाघर, बीमारी की दशा में उपचार जैसी कोई सुविधा हासिल नहीं हो पाती।

क़ानूनी सुरक्षा के अभाव में 6 से 10-12 घण्टे तक खटते हुए वह जीविका की असुरक्षा से भी गुज़रती हैं। इतना ही नहीं ये स्त्रियाँ ज़्यादातर आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े और वंचित समुदाय की होती हैं। उनकी यह सामाजिक हैसियत उनके लिए और भी अपमानजनक स्थितियाँ पैदा कर देती है। यौन उत्पीड़न, चोरी का आरोप, गालियों की बौछार या घर के अन्दर शौचालय आदि का प्रयोग न करने देना एक आम बात है।

घरेलू कामगारों की हितों की सुरक्षा के लिए कई साल पहले सरकारी और गैरसरकारी संगठनों ने मिलकर 'घरेलू कामगार विधेयक' का ख़ाका बनाया था। इस विधेयक पर राष्ट्रीय महिला आयोग ने अपनी स्वीकृति देकर सरकार के पास भेज दिया था पर अब तक इस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। महिलाओं के लिए संसद में 33 प्रतिशत आरक्षण के लिए हर साल होहल्ला मचाने वाली पार्टियों ने इतनी बड़ी आबादी को बुनियादी अधिकार दिलाने वाले इस विधेयक को पारित करने के सवाल पर कभी कोई आवाज़ नहीं उठायी। इस

विधेयक में कामगार का दर्जा देने के लिए एक परिभाषा प्रस्तावित की गयी है – “ऐसा कोई भी बाहरी व्यक्ति जो पैसे के लिए या किसी भी रूप में किये जाने वाले भुगतान के बदल किसी घर में सीधे या एजेंसी के माध्यम से जाता है तो स्थायी/अस्थायी, अंशकालिक या पूर्णकालिक हो तो भी उसे घरेलू कामगार की श्रेणी में रखा जायेगा।” इसमें उनके वेतन, साप्ताहिक छुट्टी, सामाजिक सुरक्षा आदि का प्रावधान किया गया है। महाराष्ट्र और केरल जैसे कुछ राज्यों में घरेलू कामगारों के लिए क़ानून बनने से उनकी स्थिति में एक हद तक सुधार हुआ है। लेकिन बाकी राज्यों में अभी कोई क़ानून नहीं है।

अगर क़ानून बनेगा तो घरेलू कामगारों के लिए न्यूनतम मज़दूरी का भी सवाल उठेगा इसलिए सरकार इस ओर कोई ध्यान नहीं दे रही है। इनकी सुरक्षा और न्यूनतम मज़दूरी को सुनिश्चित करने के लिए क़ानून बनना तो तात्कालिक समाधान है। घरेलू कामगारों को अपने हक़ की लड़ाई के लिए संगठित होना होगा और मज़दूरों के व्यापक संघर्ष के साथ अपने को जोड़ना होगा। उनकी वास्तविक मुक्ति तो तभी सम्भव होगी जब एक ऐसा समाज बनेगा जिसमें मालिक और नौकर का भेद ही ख़त्म हो जायेगा।

मज़दूर बिगुल, नवम्बर 2014

स्त्री मज़दूरों का संघर्ष श्रम की मुक्ति के महान संघर्ष का हिस्सा है

एलियानोर मार्क्स
अनुवाद: विजयप्रकाश सिंह

मज़दूर वर्ग के महान नेता और शिक्षक कार्ल मार्क्स की सबसे छोटी बेटी एलियानोर मार्क्स सोलह वर्ष की उम्र से ही अपने पिता के सेक्रेटरी की ज़िम्मेदारी उठाने लगी थीं और मज़दूर आन्दोलन तथा समाजवाद पर अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में उनके साथ भागीदारी करती थीं। कार्ल मार्क्स की मृत्यु के बाद उनकी अधूरी पाण्डुलिपियों को प्रकाशन के लिए तैयार करने में एलियानोर ने फ्रेडरिक एंगेल्स के साथ मिलकर काम किया। एलियानोर और उनके पति एडवर्ड अवेलिंग इंग्लैण्ड में समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय थे। एलियानोर इंग्लैण्ड की सबसे अच्छी वक्ताओं के रूप में प्रसिद्ध थीं। 1886 में एलियानोर ने क्लेमेंटिना ब्लैक के साथ मिलकर स्त्री मज़दूरों को संगठित करने का काम शुरू किया। वे विमेन्स ट्रेड यूनियन लीग में भी सक्रिय थीं। लन्दन की एक बड़ी माचिस फैक्ट्री की स्त्री मज़दूरों की सफल हड़ताल संगठित करने में भी उन्होंने अपनी मित्र एनी बेसेण्ट की मदद की थी। उन्होंने 'नेशनल यूनियन ऑफ गैस वर्कर्स एंड जरनल लेबरर्स' संगठित करने में अहम भूमिका निभायी और गोदी मज़दूरों की हड़ताल में शामिल रहीं। एलियानोर ने वैज्ञानिक समाजवाद की अनेक वैचारिक पुस्तकों और कई प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों का अंग्रेज़ी में बेहतरीन अनुवाद किया। उन्होंने मज़दूर आन्दोलन पर कई पुस्तकें और महत्वपूर्ण लेख लिखे जिनमें से कुछ हैं: 'दि फैक्ट्री हेल' (कारख़ाने का नर्क), 'दि विमेन क्वेश्चन' (स्त्रियों का प्रश्न), 'अमेरिका में मज़दूर आन्दोलन', 'शेली का समाजवाद' और 'इंग्लैण्ड में मज़दूर आन्दोलन'। इस बार 'स्त्री मज़दूर' स्तम्भ में हम एलियानोर के कुछ लेखों के महत्वपूर्ण अंश प्रकाशित कर रहे हैं जो हमारे देश में स्त्री मज़दूरों को संगठित करने की समस्याओं और चुनौतियों के लिए आज भी बेहद प्रासंगिक हैं। – सम्पादक

हम किस तरह संगठित हों?

केवल वर्ग संघर्ष का ध्यान दिलाना ही काफ़ी नहीं है। मज़दूरों को यह भी अवश्य जानना चाहिए कि किन हथियारों का और कैसे उपयोग करना है। किन स्थितियों में हमला करना है और पहले से प्राप्त किन लाभों को बनाये रखना है। और यही कारण है कि मज़दूर अब सीख रहे हैं कि कब और कहाँ हड़तालों और बहिष्कारों का सहारा लेना है, मज़दूरों के अधिकारों की हिफ़ाज़त करने वाले क़ानून कैसे हासिल करें और क्या करें कि पहले से मिले हुए क़ानून केवल काग़ज़ पर ही न रह जायें। और अब ऐसे में, हम स्त्रियों को क्या करना है? बिना किसी शक़ के हम एक चीज़ करनी है। हम संगठित होंगे – ‘स्त्रियों’ के रूप में संगठित नहीं, बल्कि सर्वहाराओं के रूप में; हमारे पुरुष कामगारों की स्त्री प्रतिद्वन्द्वियों के रूप में नहीं, बल्कि संघर्ष में उनकी साथियों के रूप में।

और सबसे गम्भीर सवाल यह है कि हम कैसे संगठित हों? मुझे लगता है कि हमें अन्तिम लक्ष्य – अपने वर्ग की मुक्ति तक पहुँचने के साधन के रूप में अपनी संगठित शक्ति का उपयोग करते हुए ट्रेड यूनियनों में संगठित होने से शुरुआत करनी चाहिए। यह काम आसान नहीं होगा। दरअसल, स्त्री मज़दूरों की स्थिति ऐसी है जिसमें आगे बढ़ना अक्सर इस क़दर कठिन होता है कि दिल टूट जाये।

लेकिन दिनो-दिन यह काम आसान होता जायेगा, और जैसे-जैसे स्त्रियाँ और विशेष रूप से पुरुष, यह देखना सीख जायेंगे कि सभी मज़दूरों को एकजुट करने में कितनी ताक़त है, आनुपातिक दृष्टि से यह काम कम से कम कठिन लगने लगेगा।

स्त्री मज़दूरों को ट्रेड यूनियनों में संगठित करने की समस्याएँ

हालाँकि हम यह प्रगति देख कर खुश हैं, और मज़दूर संगठनों ने जो प्रगति की है उसे मानते भी हैं, लेकिन हम इस सच्चाई की ओर से अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकते कि स्त्रियाँ आज भी बहुत पीछे हैं और वर्षों की मेहनत से हासिल नतीजे बहुत ही कम हैं।

यहाँ तक कि कपड़ा उद्योग में, जहाँ स्त्री मज़दूर पहली बार ट्रेड यूनियनों में संगठित हुई थीं, वहाँ भी बहुत सारी कमियाँ हैं। पहली बात तो यह कि बहुत से मामलों में स्त्रियाँ आज भी असंगठित हैं, हालाँकि अब इसमें लगातार कमी आ

रही है; क्योंकि यूनियन में देख रही हैं कि असंगठित स्त्री मज़दूर किस तरह उनके खिलाफ़ मालिकों के हाथ में हथियार बन जाती हैं। दूसरी बात यह कि प्रायः अपनी यूनियन के संचालन में स्त्री मज़दूरों की कोई आवाज़ ही नहीं होती।

उदाहरण के लिए लंकाशायर और यार्कशायर में, जहाँ स्त्रियाँ लगभग बिना किसी अपवाद के यूनियनों की सदस्य हैं, नियमित रूप से चन्दा देती हैं, और बेशक़ उनसे लाभ भी उठाती हैं, मगर इन संगठनों के नेतृत्व में उनकी कोई भूमिका नहीं होती, खुद अपने कोष के प्रबन्धन में उनकी कोई बात नहीं सुनी जाती, और अभी तक कभी भी अपनी ही यूनियन के सम्मेलनों में प्रतिनिधि नहीं बनी हैं। प्रतिनिधित्व और प्रशासन पूरी तरह पुरुष मज़दूरों के हाथ में रहता है।

स्त्रियों की इस स्पष्ट महत्वहीनता और उदासीनता का कारण आसानी से समझा जा सकता है। सभी स्त्री संगठनों के ज़्यादातर हिस्से में यह आम है और हम इसे नज़रन्दाज़ नहीं कर सकते। कारण यह है कि आज भी स्त्रियों को दो ज़िम्मेदारियाँ निभानी होती हैं: फ़ैक्टरी में वे सर्वहारा होती हैं और दिहाड़ी कमाती हैं जिस पर काफ़ी हद तक वे और उनके बच्चे निर्भर रहते हैं लेकिन वे घरेलू गुलाम भी हैं, अपने पतियों, पिताओं और भाइयों की बिना मज़दूरी की नौकर। सुबह फ़ैक्टरी जाने से पहले ही स्त्रियाँ इतना काम कर चुकी होती हैं कि अगर वही काम मर्दों को करना पड़े तो वे समझेंगे कि उन्होंने अच्छा-खासा काम कर दिया है। दोपहर के समय मर्दों को कम से कम थोड़ा आराम मिलने की उम्मीद होती है, पर स्त्रियों को तब भी आराम नहीं मिलता। और आखिरकार शाम का वक़्त बेचारे मर्द को अपने लिए मिल जाता है लेकिन और भी बेचारी स्त्री को तो उस वक़्त भी काम करना होता है। घरेलू काम उसका इन्तज़ार कर रहे होते हैं, बच्चों की देखभाल करनी होती है, कपड़ों की सफ़ाई और मरम्मत करनी पड़ती है। संक्षेप में, अगर किसी कारख़ाना इलाक़े के मर्द दस घण्टे काम करते हैं तो औरतें सोलह घण्टे करती हैं। फिर भला वे किसी और चीज़ में सक्रिय रुचि कैसे ले सकती हैं? यह भौतिक रूप से असम्भव लगता है। लेकिन इसके बावजूद इन्हीं कारख़ाना इलाक़ों में कुल मिलाकर औरतों की स्थिति सबसे अच्छी है। वे 'अच्छी' मज़दूरी पाती हैं, उनके काम के बिना मर्दों का काम नहीं चल सकता, और इसीलिए वे सापेक्षिक रूप से स्वतन्त्र हैं। जब हम उन शहरों या ज़िलों में पहुँचते हैं जहाँ स्त्रियों के काम का मतलब है नीरस और थकाऊ काम, जहाँ आम तौर पर बहुत सारा काम घर

पर किया जाने वाला काम (किसी नियोक्ता के लिए घर पर किया गया काम) होता है, वहाँ हम पाते हैं कि स्थितियाँ सबसे बुरी हैं और संगठन की ज़रूरत सबसे अधिक है।

हाल के वर्षों में इस समस्या पर काफ़ी काम किया गया है, लेकिन यह कहना मेरा फर्ज़ है कि किये गये प्रयासों के मुक़ाबले नतीजे कुछ भी नहीं हैं। लेकिन मुझे लगता है कि स्त्री मज़दूरों की दयनीय स्थिति ही इसकी वजह नहीं है। बल्कि, मेरा मानना है कि इसका एक प्रमुख कारण अधिकांश स्त्री संगठनों के गठन और संचालन के तरीक़े में निहित है। हम देखते हैं कि उनमें से अधिकतर का नेतृत्व मध्यवर्ग के लोग करते हैं, स्त्रियाँ भी और पुरुष भी। इसमें दो राय नहीं कि ये लोग एक हद तक अच्छी नीयत से काम करते हैं, लेकिन वे समझ नहीं सकते और समझना भी नहीं चाहते कि दरअसल मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का मक़सद क्या है। वे अपने आसपास फैली ग़रीबी-बदहाली देखते हैं और असहज अनुभव करते हैं, और वे अभागे मज़दूरों की परिस्थितियाँ सुधारना चाहते हैं। लेकिन वे हमारे अपने लोग नहीं हैं।

लन्दन के दो संगठनों को लें जिन्होंने स्त्रियों की यूनियन बनाने के लिए कड़ी मेहनत की है। विमेन्स ट्रेड यूनियन प्रोविडेंट लीग पुराना संगठन है और विमेन्स ट्रेड यूनियन एसोसिएशन नया है। बाद वाले के लक्ष्य पहले के मुक़ाबले कुछ अधिक उन्नत हैं लेकिन दोनों का ही संगठन, नेतृत्व और समर्थन सबसे सम्भ्रान्त और खाँटी बुर्जुआ क्रिस्म के स्त्री-पुरुष करते हैं। बिशप, पादरी, बुर्जुआ सांसद और उनसे भी अधिक निम्न-पूँजीवादी मानसिकता वाली उनकी बीवियाँ, धनी और अभिजात स्त्रियाँ और भद्रजन ये अनेक स्त्री संगठनों के संरक्षक हैं।

करोड़पति लार्ड ब्रेसेन जैसे मज़दूरों के बेशर्म शोषक और धुर प्रतिक्रियावादी सर जुलियन गोल्डस्मिड की पत्नी जैसी 'सम्भ्रान्त महिलाएँ' विमेन्स लीग के लिए धन जुटाने के वास्ते सैलून चाय पार्टियों का आयोजन करती हैं, जबकि लेडी डिल्के इस आन्दोलन का उपयोग अपने पति के राजनीतिक हित में करती हैं। मज़दूरों के बारे में ये लोग कितना कम जानते हैं इसका पता इस बात पर उनकी हैरानी से चलता है कि एक बैठक में स्त्री मज़दूरों ने 'आर्थिक रूप से अपने से बेहतर लोगों की समझदारी भरी सलाह में ... बहुत बुद्धिमानी भरी रुचि प्रदर्शित की!'

हमें आशा और विश्वास है कि मज़दूर स्त्रियाँ खुद अपने मामलों में भी इतनी

ही 'बुद्धिमानी भरी रुचि' लेंगी और अपने मामले खुद सँभाल लेंगी, और सबसे बढ़कर यह कि वे सर्वहारा के महान आधुनिक आन्दोलन का एक विशाल और सजीव हिस्सा बन जायेंगी। काफ़ी हद तक वे ऐसा कर भी चुकी हैं।

स्त्री मज़दूरों और बुर्जुआ स्त्रियों के लक्ष्य अलग हैं

एक पुरानी कहावत है, 'नर्क का रास्ता नेक इरादों से तैयार किया जाता है।' स्त्री मज़दूर बुर्जुआ स्त्री आन्दोलन की माँगों को अच्छी तरह समझ सकती हैं, वे इन माँगों के प्रति सहानुभूति का रवैया रख सकती हैं और उन्हें रखना भी चाहिए; बस स्त्री मज़दूरों और बुर्जुआ स्त्रियों के लक्ष्य काफ़ी अलग हैं।

मैं अपना दृष्टिकोण स्पष्ट तरीके से रखना चाहती हूँ, और मेरे ख्याल से मैं बहुत-सी स्त्रियों की तरफ़ से बोल रही हूँ। स्त्रियों के रूप में निश्चित तौर पर हम स्त्रियों के लिए वही अधिकार हासिल करने से सजीव सरोकार रखती हैं जोकि पुरुषों को, जिनमें मज़दूर पुरुष भी शामिल हैं, आज हासिल हो चुके हैं। लेकिन हम मानते हैं कि यह 'स्त्री प्रश्न' श्रम की मुक्ति के आम सवाल का एक अनिवार्य अंग है।

इसमें दो राय नहीं कि 'स्त्री प्रश्न' मौजूद है। लेकिन हमारे लिए जो जन्म से या फिर मज़दूरों के लक्ष्य के लिए काम करके मज़दूर वर्ग में गिने जाने के हक़दार हैं यह आम मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का मुद्दा है। जब उच्च या मध्यवर्ग की स्त्रियाँ न्यायसंगत अधिकारों के लिए लड़ती हैं तो हम उसे समझ सकती हैं, उससे हमदर्दी रख सकती हैं, और ज़रूरत पड़ने पर मदद भी कर सकती हैं, और ये अधिकार हासिल होने से मज़दूर स्त्रियों को भी लाभ होगा।

...

यदि इन स्त्रियों की उठायी सारी माँगें आज मान ली जायें तब भी हम मज़दूर स्त्रियाँ वहीं होंगी जहाँ हम पहले थीं। स्त्री मज़दूर तब भी बेहद लम्बे समय तक, बेहद कम मज़दूरी पर, बेहद अस्वास्थ्यकर हालात में काम करती रहेंगी; तब भी उन्हें वेश्यावृत्ति और भुखमरी में से कोई एक चुनना होगा। यह भी पहले हमेशा से कहीं अधिक सच होगा कि वर्ग संघर्ष में स्त्री मज़दूरों को अपने कट्टर दुश्मनों के बीच नेक स्त्रियाँ भी मिलेंगी; उन्हें इन स्त्रियों से उतने ही तीखेपन से लड़ना होगा जितने तीखेपन के साथ मज़दूर वर्ग के उनके भाइयों को पूँजीपतियों के खिलाफ़ लड़ना है। मध्यवर्ग के स्त्री-पुरुष एक 'मुक्त' क्षेत्र

चाहते हैं ताकि मज़दूरों का शोषण किया जा सके। ...

जब बुर्जुआ स्त्रियाँ किसी ऐसे अधिकार की माँग करती हैं जो हमारे लिए भी मददगार है, तो हम उनके साथ मिलकर लड़ेंगे, ठीक उसी तरह जैसे हमारे वर्ग के पुरुषों ने महज़ इसलिए मतदान के अधिकार को ख़ारिज नहीं किया था कि यह माँग बुर्जुआ वर्ग ने उठायी थी। हम भी बुर्जुआ स्त्रियों द्वारा अपने हित में हासिल किये किसी ऐसे अधिकार को ख़ारिज नहीं करेंगे जो वे हमें चाहे या अनचाहे प्रदान करते हैं। हम इन अधिकारों को हथियार के रूप में स्वीकार करते हैं, ऐसे हथियार के रूप में जो हमें मज़दूर वर्ग के अपने भाइयों के साथ खड़े होकर बेहतर ढंग से लड़ने के योग्य बनाते हैं। हम पुरुषों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए लामबन्द स्त्रियाँ नहीं हैं बल्कि शोषकों के ख़िलाफ़ लड़ रही मज़दूर हैं।

मज़दूर बिगुल, जुलाई 2012

स्त्री मज़दूर

पेशागत बीमारियों और इलाज में उपेक्षा की दोहरी मार झेलती हैं स्त्री मज़दूर

कविता

आज देश भर में करोड़ों स्त्रियाँ हर तरह के उद्योगों में काम कर रही हैं। पूरे सामाजिक और पारिवारिक ढाँचे की ही तरह उद्योगों में भी स्त्री मज़दूर सबसे निचले पायदान पर हैं। सबसे कम मज़दूरी पर बेहद कठिन, नीरस, कमरतोड़ और थकाऊ काम उनके ज़िम्मे आते हैं। इसके साथ ही, काम की परिस्थितियों के चलते स्त्री मज़दूर तमाम तरह की पेशागत बीमारियों और स्वास्थ्य समस्याओं की शिकार हो रही हैं। किसी भी मज़दूर बस्ती में कुछ मज़दूरों के घरों में जाने पर इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। और कई सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाओं की रिपोर्टें इस सच्चाई को आँकड़ों के साथ बयान करती हैं।

इलेक्ट्रानिक सामान, रेडीमेड गारमेण्ट और प्लास्टिक के सामान बनाने वाले उद्योगों में काम कर रही स्त्री मज़दूरों के बीच बड़े पैमाने पर किये गये एक सरकारी सर्वेक्षण के मुताबिक़ अधिकांश स्त्री मज़दूर पेशे के कारण होने वाली किसी न किसी समस्या से पीड़ित हैं। इनमें लगातार गर्मी, शोर और थरथराहट से भरे माहौल में काम करने के कारण सिरदर्द, तनाव, ब्लड प्रेशर जैसी बीमारियाँ, कई तरह के तीखे केमिकल्स की गैसों, धुएँ और धूल-गर्द के बीच रहने से आँख, नाक, गले के रोग, फेफड़े की बीमारियाँ, घण्टों खड़े रहने के कारण स्थायी थकान और रीढ़ की हड्डी की समस्याएँ शामिल हैं। घण्टों तक खड़े रहने से कई स्त्रियों में बच्चेदानी की बीमारियाँ भी हो जाती हैं।

तीनों ही उद्योगों की स्त्री मज़दूरों में मानसिक तनाव और उससे होने वाली बीमारियाँ पायी गयीं। लगातार एक ही मुद्रा में खड़े या बैठे रहकर 8-10 घण्टे तक एक जैसे काम करते रहने से माँसपेशियों में गम्भीर अन्दरूनी चोटें हो जाती है। इन स्त्री मज़दूरों में सिर दर्द, पीठ व कमर दर्द, खाँसी, टीबी, साँस

फूलना, खून की कमी, ब्लडप्रेसर, चमड़ी के रोग, दिल की बीमारियाँ, आँखों में जलन, रोशनी कम होना, पेट की गड़बड़ी, सुनने की शक्ति कम होना आदि समस्याएँ बड़े पैमाने पर पायी गयीं।

राजधानी दिल्ली सहित सारे देश में आजकल धुआँधार निर्माण कार्य चल रहे हैं, जिधर देखो ऊँची-ऊँची दैत्याकार इमारतें खड़ी हो रही हैं। देश के करीब साढ़े तीन करोड़ निर्माण मज़दूरों में लगभग आधी स्त्रियाँ हैं। सभी निर्माण मज़दूर बेहद खराब हालात में काम करते हैं लेकिन इनमें भी स्त्री मज़दूरों की स्थिति और भी खराब है। एक स्वयंसेवी संस्था की रिपोर्ट के अनुसार निर्माण उद्योग में काम करने वाली स्त्रियाँ गर्दन, रीढ़, पीठ कमर और टाँगों के दर्द से बुरी तरह पीड़ित होती हैं। बोझ उठाने वाली मज़दूरों में लगातार दबाव की वजह से लकवा मार जाने की घटनाएँ भी अकसर होती रहती हैं। निर्माण स्थानों पर उठने वाली धूल-राख- सीमेण्ट आदि के बीच लगातार रहने से सिलिकोसिस और ब्रोंकाइटिस जैसी फेफड़े की बीमारियाँ और त्वचा के रोग आम बात हैं। निर्माण स्थलों पर छोटी-बड़ी दुर्घटनाएँ तो रोज़ की बात हैं। सीढ़ियों से फिसलकर गिर जाने, ऊँचाई से गिरने, खोदे जा रहे गड्ढे या दीवार आदि के ढह जाने, क्रेन की चेन टूटने से या अन्य वजहों से गिरे भारी सामान के नीचे दब जाने से मौत या ज़िन्दगी भर के लिए अपंग हो जाने का डर साये की तरह उनका पीछा करता रहता है। निर्माण कम्पनियाँ और ठेकेदार सुरक्षा उपायों पर होने वाले खर्च करने को फालतू खर्च मानते हैं। आखिर, जब उन्हें बिना किसी दिक्कत के बेहद कम क़ीमत पर मज़दूर मिलते ही रहते हैं, तो वे सुरक्षा जाल, सुरक्षा पेटी, हेलमेट, रेलिंग, उपकरणों के नियमित मेनटेनेंस आदि पर पैसे बर्बाद क्यों करें?

दिल्ली के कई इलाकों में मसालों की पिसाई और पैकिंग के काम में हज़ारों स्त्रियाँ लगी हुई हैं। इनमें 60-70 से लेकर 100 स्त्रियों तक को काम पर लगाने वाली कम्पनियों से लेकर 4-5 स्त्रियों वाली छोटी-छोटी इकाइयाँ तक शामिल हैं। सुबह से रात तक मसालों की धूल के सम्पर्क में रहने से इन स्त्रियों को आँख, नाक, साँस की समस्याएँ, त्वचा पर जलन व खुजली और एलर्जी जैसी परेशानियाँ होती रहती हैं। लगातार सिरदर्द और हथेलियों पर छाले पड़ना भी सामान्य बात है। नाक और मुँह के रास्ते मसालों की बारीक धूल पेट में जाते रहने से बहुत-सी मज़दूरों को आँतों में जलन या घाव भी हो जाते हैं। अचार उद्योग में काम करने वाली स्त्रियों की भी ऐसी ही समस्याएँ होती हैं।

लोगों के खाने में स्वाद भरने वाले मसालों और अचार के पीछे की इस कड़वी हकीकत का पता शायद ही किसी को चलता है।

दिल्ली तथा नोएडा की सूती और ऊनी कपड़े तैयार करने वाली इकाइयों में स्त्री कामगारों के बारे में 2 वर्ष पहले आयी एक रिपोर्ट में बताया गया है कि अन्य समस्याओं के साथ-साथ सूत और ऊन के महीन धागे कारखाने के हॉल की हवा में भरे रहते हैं। इसकी वजह से स्त्री मज़दूरों में साँस फूलने और सीने में दर्द की शिकायतें बहुत अधिक पायी जाती हैं। रेडीमेड कपड़ों के कारखानों में कपड़े प्रेस करने वाली स्त्रियों में भीषण गर्मी से सिरदर्द, मितली, चक्कर और बेहोशी तक हो जाती है। इसी रिपोर्ट के अनुसार एक बड़ी कम्पनी की क्लिनिक में रोज़ाना लगभग 100 स्त्री मज़दूरों का सिरदर्द, चक्कर, बेहोशी आदि के लिए हलाज करना पड़ता है।

उपरोक्त रिपोर्टों में इस बात के भी ब्योरे हैं कि इन उद्योगों में काम की परिस्थितियाँ ही स्त्री मज़दूरों की इन स्वास्थ्य समस्याओं के लिए ज़िम्मेदार हैं। कहीं भी सुरक्षा और बचाव के उचित इन्तज़ाम नहीं किये जाते हैं। बहुतेरे कारखानों में तो पीने का साफ़ पानी तक नहीं होता। स्त्रियों के लिए अलग शौचालय या तो होते ही नहीं या बेहद गन्दे होते हैं। शौचालय जाने से बचने के लिए बहुतेरी स्त्री मज़दूर दिनभर कुछ खाती-पीती ही नहीं हैं जिसकी वजह से भी उन्हें कई बीमारियाँ हो जाती हैं। बहुत ही कम कारखानों में दुर्घटना या बीमारी की हालत में स्त्री मज़दूरों को तुरन्त उपचार मुहैया कराने का इन्तज़ाम है। कहीं-कहीं तो प्राथमिक चिकित्सा तक का इन्तज़ाम नहीं होता। गर्भवती स्त्री मज़दूरों की स्थिति तो और भी ख़राब होती है। सरकारी कर्मचारियों और चन्द बड़ी कम्पनियों की स्थायी कामगारों के लिए तो गर्भावस्था अवकाश का क़ानून लागू है लेकिन करोड़ों असंगठित स्त्री मज़दूर आखिरी समय तक काम पर जाने के लिए मजबूर हैं। उन्हें न तो कोई छुट्टी मिलती है और न ही गर्भावस्था के लिए किसी तरह का कोई विशेष लाभ दिया जाता है। उल्टे, ज़्यादातर मालिक तो उन्हें काम से ही निकाल देते हैं। परिवार की ग़रीबी और बच्चे के जन्म के लिए कुछ पैसे बचाने के लिए स्त्री मज़दूर अक्सर प्रसव के एक दिन पहले तक काम करती रहती हैं और प्रसव के बाद भी जल्द-से-जल्द वापस काम पर जाने की कोशिश करती हैं। गर्भावस्था के अन्तिम कुछ महीनों में कठिन काम करने के कारण कई स्त्रियों को प्रसव में जटिलताएँ पैदा हो जाती हैं या कभी-कभी गर्भपात भी हो जाता है।

यह पूरी स्थिति तब और भी गम्भीर नज़र आती है जब हम यह देखते हैं कि इलाज़ और देखभाल में भी स्त्री मज़दूरों को उपेक्षा और लापरवाही का सामना करना पड़ता है। यह स्थिति कारखानों से लेकर घर-परिवार तक होती है। स्त्री मज़दूरों की विशेष ज़रूरतों का ध्यान किसी कारखाने में नहीं रखा जाता। उनके लिए अलग साफ़-सुथरे शौचालय और काम के बीच में थोड़ा आराम करने की जगहें कहीं नहीं होतीं। अगर किसी कारखाना इलाके में कोई क्लिनिक है भी तो वहाँ स्त्री डॉक्टर नहीं होती।

पुरुष वर्चस्ववादी सोच मज़दूरों के बीच भी हावी है जिसका खामियाज़ा भी स्त्रियों को झेलना पड़ता है। बीमार या कमज़ोर या गर्भवती होने पर स्त्रियों को अक्सर काम की जगह पर मज़ाक, ताने, डाँट-फटकार या गालियों का सामना करना पड़ता है। घर पर भी अक्सर उन्हें अपने पति या परिवार के पुरुष सदस्यों से मदद या संवेदनशीलता भरा व्यवहार नहीं मिलता। उनके इलाज में अक्सर लापरवाही बरती जाती है और अगर घर में कोई दूसरी स्त्री नहीं है तो उनकी ठीक से देखभाल भी नहीं होती। जो पुरुष खुद बीमार होने पर स्त्री से उम्मीद करता है कि वह उसकी जी-जान से सेवा करे वह स्त्री के बीमार होने पर उसकी देखभाल को बोझ समझता है और अक्सर किसी-न-किसी बहाने उससे भागा रहता है। ऐसे में स्त्री मज़दूर अक्सर अपनी बीमारी को काफ़ी समय तक छिपाती रहती हैं और चुपचाप तकलीफ़ झेलती रहती हैं।

सरकारी-गैरसरकारी रिपोर्टें स्त्री मज़दूरों की हालत की सिर्फ़ एक झलक दिखाती हैं। ज़मीनी तौर पर स्थितियाँ और भी भयंकर हैं। मगर इन स्थितियों को बदलने के लिए इन रिपोर्टों में सुझाये गये उपाय या तो महज़ पैबन्दसाज़ी होते हैं या फिर वे कहीं लागू ही नहीं किये जाते। पेशागत स्वास्थ्य और सुरक्षा के अधिकारों के लिए लड़ना स्त्री मज़दूरों के संघर्ष का एक अहम मुद्दा होगा। बेशक, यह संघर्ष अलग-थलग नहीं, बल्कि व्यापक मज़दूर आबादी के साथ जुड़कर ही चलेगा लेकिन स्त्री मज़दूरों की विशेष समस्याओं को उसमें दरकिनार न कर दिया जाये, इसके लिए स्त्री मज़दूरों को संगठित होकर आवाज़ उठानी होगी।

मज़दूर बिगुल, जून 2012

स्त्री मज़दूर

पूँजी के ऑटोपसी पंजों में जकड़ी स्त्री मज़दूर पूरी दुनिया में सबसे अधिक शोषण और उत्पीड़न की शिकार

कविता

कभी आप अपने मोबाइल फ़ोन या चार्जर के भीतर झाँककर देखिये। आप सोचते होंगे कि इन बारीक पुर्जों को शायद किसी ऑटोमेटिक मशीन से जोड़ा गया होगा। आपको उन औरतों की हाड़तोड़ मेहनत और नारकीय ज़िन्दगी का अन्दाज़ा तक नहीं होगा जो तंग अँधेरी कोठरियों में बेहद कम मज़दूरी पर बारह या चौदह घण्टों तक बैठकर फ़ोन के चिप जोड़ती रहती हैं या चार्जर के तार लपेटती रहती हैं। बेंगलुरु-गुडगाँव से लेकर अमेरिका की सिलिकॉन वैली तक कम्प्यूटर उद्योग और इलेक्ट्रॉनिक उद्योग की दुनिया में घुसकर सुख-समृद्धि के सपने देखने वाले खाते-पीते घरों के नौनिहालों को उन स्त्रियों का घुटन, अभाव और बीमारियों भरा जीवन सपने में भी नहीं दिखता होगा जो सुबह से रात तक कम्प्यूटर और विभिन्न इलेक्ट्रॉनिक सामानों के बारीक कल-पुर्जों को जोड़ने के यत्न में आँखें फोड़ती रहती हैं। सड़को-बाज़ारों में घूमते लोगों के शरीरों पर सजे फ़ैशनेबल कपड़ों पर तिरुपुर और बेंगलूरु की उन स्त्री मज़दूरों के खून के छीटे नंगी आँखों से दिखायी नहीं देते, जो बर्बर शोषण-उत्पीड़न से तंग आकर आये दिन खुदकुशी करती रहती हैं।

मजदूरों की मुक्ति का विचार देने वाले महान क्रान्तिकारी विचारक कार्ल मार्क्स का कहना था कि पूँजी का सारा वैभव स्त्रियों और बच्चों के सस्ते श्रम की बुनियाद पर खड़ा है। उनका यह कहना आज भी सौ फ़ीसदी सही लगता है कि "पूँजी सर से पाँव तक, पोर-पोर तक खून और गन्दगी में लिथड़ी हुई है।" उन्होंने 'पूँजी' के पहले खण्ड में 1863 के लन्दन का एक उदाहरण दिया है, जो उन दिनों आम बात हुआ करती थी। कपड़ों की एक प्रतिष्ठित दूकान के लिए कपड़े तैयार करने के लिए 60 लड़कियाँ मात्र दो कमरों में ठुँसी हुई

रोज़ाना 16-16 घण्टे और तेज व्यवसाय के दिनों में लगातार 30-30 घण्टों तक काम करती थीं। उनके सोने के लिए लकड़ी के छोटे-छोटे सूराखनुमा केबिन थे। इनमें से एक लड़की मेरी वालकते काम करते-करते मर गयी थी।

अतिलाभ निचोड़ने की अस्थी हवस ने और सरकारों द्वारा श्रम क़ानूनों को ज्यादा से ज्यादा ढीला और कागज़ी बनाने की कोशिशों ने आज के पूँजीवादी उत्पादन को एक बार फिर उन्नीसवीं शताब्दी जैसा ही बर्बर और ख़ूनी बना दिया है। भारत के टेक्सटाइल और गारमेण्ट उद्योग के स्त्री मज़दूरों की स्थिति उन्नीसवीं शताब्दी के लन्दन जैसी ही बदतर है। विश्व बाज़ार में भारत के गारमेण्ट उद्योग की सफलता इसमें काम करने वाली औरतों की हड्डियाँ निचोड़कर हासिल की गयी है। ये औरतें बहुत बुरी स्थिति में काम करती हैं और कोई भी श्रम-क़ानून इनके लिए बेमानी होता है। भारत में दिल्ली-नोएडा, गुडगाँव, मुंबई, तिरुपुर और बेंगलूरु, गारमेण्ट उद्योग के पाँच प्रमुख केन्द्र हैं। यहाँ लाखों स्त्रियाँ टेक्सटाइल और गारमेण्ट के विभिन्न कामों में लगी हुई हैं। कताई-बुनाई, सिलाई-कटाई, कढ़ाई, कपड़े-रंगने, बटन टाँकने, धागा काटने, प्रेस करने, पैकिंग आदि दर्जनों काम होते हैं। सभी स्त्री मज़दूरों पर काम का बहुत अधिक बोझ होता है। मशीन पर काम करने वाली स्त्रियों को एक घण्टे में 100 से 120 गारमेण्ट तक का टारगेट दिया जाता है। अक्सर तय समय में टारगेट पूरा होना असम्भव होता है। लेकिन जब तक काम ख़त्म न हो जाये तब तक कारख़ाने से बाहर वे क़दम नहीं रख सकतीं। सुपरवाइज़रों की गाली-गलौज, बदसलूकी और बात-बात पर पैसे काट लेना आम बात होती है। इन हालात में काम करने वाली ज्यादातर स्त्रियाँ तरह-तरह की स्वास्थ्य समस्याओं से जूझती रहती हैं। गहरी निराशा के चलते आत्महत्या की प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही है। तमिलनाडु के तिरुपुर में पिछले दो वर्षों के दौरान 1500 से ज्यादा स्त्री मज़दूरों ने खुदकुशी की है। बेंगलुरु में पिछले वर्ष नवम्बर में सात टेक्सटाइल स्त्री मज़दूरों ने एक साथ ट्रेन से कटकर जान दे दी। इस तरह की आत्महत्याओं की ख़बरें अन्य जगहों से भी आती रही हैं। ऐसी नब्बे प्रतिशत से भी अधिक स्त्री मज़दूर कुपोषण और गम्भीर स्वास्थ्य समस्याओं से ग्रस्त रहती हैं। कई नमूना सर्वेक्षणों और रिपोर्टों में यह बात सामने आ चुकी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लम्बे संघर्षों के बाद यूरोप के मज़दूरों ने बहुत सारे अधिकार हासिल किये थे। दूसरे, पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों ने अपने उपनिवेशों की अकूत लूट के एक छोटे से भाग

से अपने देश के मज़दूरों के तुष्टिकरण की प्रक्रिया शुरू की। मज़दूर आन्दोलन के भ्रष्ट नेतृत्व को खरीदकर भी उन्होंने अपना मक़सद पूरा किया। इधर भारत और तमाम दूसरे उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति के साथ-साथ मज़दूर आन्दोलन भी आगे बढ़ रहा था। उनपर मज़दूर क्रान्तियों की ऐतिहासिक लहर का भी प्रभाव था। आन्दोलन के दबाव में भारत में भी अंग्रेज़ों को कुछ श्रम क़ानून बनाने पड़े। आज़ादी मिलने के बाद भारत में देशी पूँजीपतियों की सत्ता आयी जिनकी गाँठ साम्राज्यवादियों से जुड़ी थी। पूँजीवाद के विस्तार के साथ देशी-विदेशी लूट तो बढ़ती रही, फिर भी सत्ता के अस्थिर हो जाने के डर से पूँजीवादी सत्ता मज़दूरों को कुछ छूटें-राहतें देती रही। फिर सबसे बड़ा लाभ उसे मज़दूर आन्दोलन के नेतृत्व के पतित होकर बिक जाने से मिला। राजकीय और निजी क्षेत्र के बड़े उद्योगों के संगठित मज़दूरों को श्रम क़ानूनों का लाभ और ज्यादा सुविधाएँ मिली। यह छोटी सी आबादी जुझारू संघर्षों से दूर हो गयी और तरह-तरह के, बहुसंख्यक असंगठित मज़दूरों से एकदम कट गयी। फिर दौर आया निजीकरण-उदारीकरण का। संकटग्रस्त साम्राज्यवादी अपनी पूँजी का अम्बार झोंककर ग़रीब और पिछड़े देशों की सस्ती श्रमशक्ति निचोड़ने के लिए आतुर थे। ग़रीब और पिछड़े देशों के पूँजीपतियों को भी अब अपना मुनाफ़ा और अधिक बढ़ाने के लिए साम्राज्यवादियों से तकनोलॉजी और पूँजी की दरकार थी। यह नया दौर लातिन अमेरिका के देशों में तो 30-35 वर्षों पहले ही शुरू हो चुका था। भारत में 1990 के बाद यह प्रक्रिया तेज़ी से आगे बढ़ी।

नयी तकनोलॉजी ने आज इस चीज़ को आसान बना दिया है कि किसी भी चीज़ का उत्पादन एक छत के नीचे, एक असेम्बली लाइन पर करने के बजाय, पूरी उत्पादन प्रक्रिया को कई हिस्सों में तोड़ दिया जाये। अलग-अलग पार्ट्स को बनाने-जोड़ने का काम अलग-अलग वर्कशॉपों में और यहाँ तक कि पीसरेट पर घरों पर कराया जाये। खण्ड-खण्ड में बँटे इन कामों को थोड़ी-बहुत ट्रेनिंग के बाद अकुशल-अर्द्धकुशल मज़दूर भी कर सकते थे। इन नयी प्रणालियों का लाभ यह हुआ कि बड़े पैमाने पर मज़दूर आबादी को असंगठित क्षेत्र में धकेल दिया गया, जिससे कम से कम मज़दूरी देकर आधुनिकतम (इलेक्ट्रॉनिक सामान, मोबाइल, कम्प्यूटर, वस्त्र, खिलौने, जूते, कार, जेनरेटर आदि-आदि) चीज़ों का उत्पादन करवाया जा सकता था। केवल असेम्बलिंग के अन्तिम चरण या कुछ जटिल चरणों के लए ही प्रशिक्षित टेकनीशियनों की एक छोटी टीम की ज़रूरत होती थी। असंगठित मज़दूर ज्यादातर श्रम क़ानूनों

के दायरे के बाहर होते हैं और उनके लिए यदि कुछ श्रम क़ानून (जैसे ठेका मज़दूरी सम्बन्धी क़ानून, न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे आदि से सम्बन्धित क़ानून) और सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योजनाएँ होती भी हैं तो उनका कोई मतलब नहीं होता है। आप दिल्ली, नोएडा, गुड़गाँव के ज्यादातर कारख़ानों और वर्कशॉपों में जाकर देखें तो पता चलेगा कि अधिकतर ठेका या कैजुअल मज़दूरों और अप्रेण्टिसों को दिहाड़ी मज़दूरी के अतिरिक्त कोई भी सुविधा नहीं मिलती। साप्ताहिक छुट्टी भी नहीं होती (यानी उस दिन की पगार नहीं मिलती)। सिंगल रेट पर ही ओवरटाइम करना पड़ता है। उनके पास पगार की स्लिप या ऐसा कोई प्रमाण नहीं होता कि वे अपने को किसी कारख़ाना, वर्कशॉप या ठेकेदार का मज़दूर सिद्ध कर सकें। ऐसे में न तो उनका ई.एस. आई. कार्ड बन पाता है, न वे मज़दूरों के लिए घोषित आवास, बीमा पेंशन या दुर्घटना की स्थिति में मुआवज़े जैसी किसी सुविधा के हक़दार हो पाते हैं।

कृषि क्षेत्र को छोड़ भी दें तो शहरी उद्योगों और व्यापारिक प्रतिष्ठानों में लगे मज़दूरों की नब्बे प्रतिशत आबादी इसी श्रेणी में आती है। और इनके सबसे निचले पायदान पर स्त्री मज़दूर आती हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के एशिया-अफ्रीका-लातिन अमेरिका जैसे देशों की ओर कूच करने का मुख्य कारण है यहाँ का कम वेतन। अमेरिका, फ़्रांस, जर्मनी या इंग्लैण्ड के मुक़ाबले वही काम मेक्सिको, ब्राज़ील, चीले, हाइती दक्षिण अफ्रीका, भारत, चीन, बंगलादेश, पाकिस्तान, फिलिपींस, मलेशिया जैसे देशों में एक चौथाई से लेकर दसवें हिस्से तक कम मज़दूरी देकर कराया जा सकता है। जनतान्त्रिक चेतना की कमी के कारण यहाँ की सरकारें श्रमिकों की सामाजिक सुरक्षा पर नाममात्र खर्च करती हैं और कम्पनियों को भी अन्धेरगर्दी की इजाज़त देती हैं। जो क़ानून हैं, वे भी महज़ कागज़ों पर ही सीमित रह जाते हैं।

सबसे कम वेतन पर, सबसे कठिन परिस्थितियों में सबसे उबाऊ, थकाऊ और बारीक़ काम भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों में असंगठित स्त्री मज़दूरों द्वारा कराये जाते हैं। अस्सी के दशक में ताइवान, हाइती, मेक्सिको जैसे देशों में इस प्रक्रिया ने ज़ोर पकड़ा। नब्बे के दशक से भारत, चीन, फिलिपींस, बंगलादेश, इण्डोनेशिया, मलेशिया जैसे देशों में भी ऐसी ही प्रवृत्ति प्रधान बन गयी। केवल खिलौने, जींस, माइक्रोप्रोसेसर, हार्डवेयर आदि ही नहीं वॉलमार्ट जैसी खुदरा व्यापार की दैत्याकार कम्पनियाँ और एग्रीबिज़नेस में लगी कम्पनियाँ भी फलों और खाद्य पदार्थों की छँटाई, बिनाई, पैकिंग आदि में

मुख्यतः स्त्री कामगारों को लगाने लगीं।

महज़ कुछ आँकड़ों की रोशनी में पूरी दुनिया और भारत की स्त्री मज़दूरों की स्थिति को समझा जा सकता है। पूरी दुनिया में स्त्रियों की मज़दूरी पुरुषों के मुकाबले 17 प्रतिशत कम है। भारत में यह 23 प्रतिशत कम है। पूरी दुनिया में काम के कुल घण्टों का दो-तिहाई स्त्रियाँ करती हैं। दुनिया में होने वाली कुल आमदनी का मात्र 10 प्रतिशत स्त्रियों को मिलता है। दुनिया में स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले कुल काम के दो-तिहाई के लिए कोई भुगतान नहीं मिलता। गरीबी में रहने वाले लोगों में 80 प्रतिशत स्त्रियाँ हैं।

अब भारत की स्त्री मज़दूरों की चर्चा पर वापस लौटते हैं। 'नेशनल काउंसिल ऑफ अप्लाइड इकोनॉमी रिसर्च' के अनुसार भारत में 97 प्रतिशत स्त्री मज़दूर असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र में काम करती हैं। इन स्त्रियों के लिए ट्रेड यूनियन एक्ट (1926), न्यूनतम मज़दूरी क़ानून (1948), मातृत्व लाभ क़ानून (1961) और बहुतेरे ऐसे क़ानून हैं, जो कहीं भी लागू नहीं होते। इनमें ऐसे सुरक्षा क़ानून भी शामिल हैं जो ज़िला प्रशासन के पास पंजीकरण कराये जाने पर मज़दूरों को स्वास्थ्य और मातृत्व लाभ सहित कई सुविधाएँ देता है, लेकिन यह भी सिर्फ़ कागज़ पर ही। ज्यादा मालिक स्त्री मज़दूरों को अपना मुलाज़िम होने का कोई सबूत ही नहीं देते। ढेर सारी स्त्रियाँ कारख़ानों में भी पीस रेट पर ही काम करती हैं। काम का एक बहुत बड़ा हिस्सा स्त्रियाँ घरों पर लाकर पीस रेट पर करती हैं। ऐसे 70-80 प्रकार के काम दिल्ली की झुग्गी बस्तियों में स्त्रियाँ करती हैं। औसतन 8-10 घण्टे काम करके भी ये स्त्रियाँ 30 से 50 रुपये तक की कमाई ही कर पाती हैं। विडम्बना यह है कि सरकारी परिभाषा के मुताबिक़ घरों पर पीस रेट पर किया जाने वाला यह काम मज़दूरी की श्रेणी में आता ही नहीं। इसे स्वरोज़गार माना जाता है। इन स्त्रियों के स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा या दुर्घटना के लिए सरकार या मालिकों की कोई ज़िम्मेदारी नहीं होती। इधर सरकारी और विदेशी सहायता प्राप्त बहुत सारे एन.जी.ओ. कुकुरमुत्तों की तरह पनपे हैं जो स्वावलम्बन के नाम पर बहुत सस्ती दरों पर इन स्त्रियों से माल उत्पादन कराते हैं और माइक्रोक्रेडिट के नाम पर कर्ज देकर उनसे बैंकों से कई गुनी अधिक दरों पर सूद वसूलते हैं। अपने लुटेरे चरित्र पर पर्दापोशी करने के लिए सुधार कार्यक्रम भी चलाते रहते हैं। इन एन.जी.ओ. के मुलाज़िम भी नाम-माल की पगार पाते हैं और उनकी स्थिति भी कमोबेश असंगठित मज़दूरों जैसी ही होती है।

भारत की जिस तरक्की का खाता-पीता मध्यवर्ग दीवाना हो रहा है, उसके पीछे स्त्री-मज़दूरों के अकूत शोषण की अहम भूमिका है। इसका एक उदाहरण टेक्सटाइल और सिले-सिलाये कपड़ों का उद्योग है। खेती के बाद दूसरे नम्बर पर सबसे अधिक लोग इसी उद्योग में लगे हैं। कुछ साढ़े चार करोड़ लोगों को इस क्षेत्र में रोज़गार मिला हुआ है जिनमें लगभग तीन-चौथाई स्त्रियाँ हैं। वर्ष 2008 से जारी विश्वव्यापी मन्दी का भी सबसे ज्यादा असर स्त्री मज़दूरों पर पड़ा है। पिछले तीन वर्षों में दुनिया में ढाई करोड़ औरतें बेरोज़गार हो गयी हैं। जो काम कर रही हैं, उनकी भी वास्तविक मज़दूरी में बहुत अधिक गिरावट आयी है। 2008 में भारत में 10 लाख टेक्सटाइल मज़दूर बेकार हो गये। इनमें ज्यादातर स्त्रियाँ थीं।

पूँजीवादी लूटमार की सर्वाधिक शिकार इस असंगठित सर्वहारा समुदाय की करोड़ों की आबादी को जागृत और संगठित करना क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन के पुनरुत्थान के लिए अनिवार्य है, पर यह अत्यधिक चुनौती भरा, श्रमसाध्य और लम्बा काम है। केवल सौदेबाज़ी करने वाले ट्रेडयूनियनों का गद्दार नेतृत्व तो यह काम कर ही नहीं सकता। पुरुष मज़दूरों में जो परम्परागत पुरुष स्वामित्ववादी मानसिकता गहरी जड़े जमाये है, वह भी स्त्री मज़दूरों की पहलकदमी और सक्रियता को दबाने में अहम भूमिका निभाता है। स्वयं स्त्री मज़दूरों में अशिक्षा और राजनीतिक जागरूकता की कमी एक बड़ी बाधा है। जीवन की निराशा और अपनी दुरावस्था के मूल कारणों से अपरिचित होने के चलते स्त्री मज़दूरों में अन्धविश्वासों और धार्मिक रूढ़ियों का भी काफ़ी प्रभाव है। अगर स्त्री-पुरुष दोनों मज़दूरी करते हैं तब भी घरेलू कामों और बाल-बच्चों को सम्भालने की सारी ज़िम्मेदारी स्त्री के मत्थे होती है। बहुत पुरुष मज़दूर खुद ही चाहते हैं कि कारख़ानों में काम करने बाहर निकलने के बजाये "उनकी औरतें" घर-बार सम्भालते हुए घर पर ही पीस रेट पर काम करके कुछ "अतिरिक्त कमाई" कर लिया करें। वे खुद ही स्त्रियों की श्रम-शक्ति का कोई मोल नहीं समझते।

इन कठिन परिस्थितियों में भारत की स्त्री सर्वहारा की सोयी हुई, बिखरी हुयी विराट महाशक्ति को जगाने के लिए कई मोर्चों पर लम्बा और कठिन संघर्ष चलाना होगा। रात्रि पाठशालाओं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों और सघन प्रचार के जरिये उन्हें अपने अधिकारों के प्रति तथा धार्मिक रूढ़ियों-अन्धविश्वासों के विरुद्ध जागरूक बनाना होगा। मज़दूर बस्तियों में रोज़मर्रे के जीवन से

जुड़ी माँगों पर उन्हें संगठित करना होगा। मज़दूर आन्दोलन में उनकी सक्रिय भागीदारी बढ़ाने की लगातार कोशिशें करनी होंगी और स्त्री मज़दूरों की अपनी माँगों पर उनकी अलग से लामबन्दी की भी कोशिश करनी होगी। साझा यूनियनों के अतिरिक्त स्त्री मज़दूरों के स्वतन्त्र संगठन भी बनाने होंगे। यह कठिन और लम्बा काम है, लेकिन ज़रूरी काम है। अधिक जागरूक और अगुवा स्त्री-मज़दूरों के अध्ययन-मण्डल अलग से संगठित करने होंगे जिनमें उन्हें मज़दूर क्रान्तियों के बारे में, समाजवाद के बारे में, क्रान्तियों में आधी आबादी की अनिवार्य सक्रिय भूमिका के बारे में, समाजवादी समाज में उनकी आज़ादी के बारे में तथा मज़दूरों के आर्थिक एवं राजनीतिक संघर्षों की प्रक्रिया के बारे में शिक्षित किया जाये। स्त्री मज़दूरों के भीतर से उनका नेतृत्व विकसित करना बेहद ज़रूरी है।

स्त्री मज़दूरों को संगठित करने की प्रक्रिया आर्थिक संघर्षों में उन्हें सक्रिय बनाने और बुनियादी जनवादी हक़ों के लिए लड़ना सिखाने के साथ ही सतत् सघन राजनीतिक प्रचार करती है। बहुत धैर्यवान, रचनात्मक और क्रान्तिकारी वैज्ञानिक समझ से लैस कार्यकर्ता ही इस प्रक्रिया को आगे बढ़ा सकते हैं। उन्हें मज़दूर आबादी के साथ एकरूप हो जाना होगा। निश्चय ही, आज ऐसे क्रान्तिकारी मज़दूर संगठनकर्त्ताओं की भारी कमी है। इस कमी को दूर करना होगा। करते हुए सीखना होगा और फिर जनता को सिखाना होगा। चीज़ों को बदलने के लिए उन्हें समझना होगा और चीज़ों को बदलने की प्रक्रिया में खुद को बदल डालना होगा।

मज़दूर बिगुल, मई 2012

श्री मज़दूर पीसरेट पर काम करने वाली श्री मज़दूरों की अँधेरी ज़िन्दगी

कविता

दृश्य एक : उत्तर पश्चिम दिल्ली में बादली औद्योगिक क्षेत्र के पीछे राजा विहार बस्ती में एक छोटा-सा कमरा जिसमें चार स्त्रियाँ बैठकर एक बेहद छोटे-से स्प्रिंग के दोनों सिरों पर पतले-पतले तारों को प्लास की सहायता से निकाल रही थीं। मैंने भी उनसे लेकर स्प्रिंग के तार निकालने की कोशिश की, लेकिन तार इतना महीन था कि प्लास से पकड़ना तो दूर मुझे तो वह दिखाई ही नहीं दे रहा था। पूछने पर पता चला कि एक हजार स्प्रिंग के तार निकालने पर बीस रुपये मिलते हैं। कभी-कभी एक औरत पूरे दिन में एक हजार पीस ही कर पाती है।

दृश्य दो : ऐसा ही एक दूसरा नीमअँधेरा कमरा जहाँ एक स्त्री नीचे बैठकर मोबाइल चार्जर के अन्दर की वायरिंग लपेट रही थी। उसे 100 पीस पर 6 रुपये मिलते हैं।

दृश्य तीन : एक छोटे-से अँधेरे कमरे में तीन-चार महिलाएँ 10-10 प्लास्टिक के चम्मचों की गड्डी बना रही थीं। उन्हें एक बोरी चम्मचों के तीस रुपये मिलते हैं।

दिल्ली में मध्यवर्गीय इलाकों की चकाचौंध से दूर मज़दूर बस्तियों में बीड़ी बनाने, ज़री, कढ़ाई, रेडीमेड कपड़ों के धागे काटना, पैकेटों में बिन्दी चिपकाना, बच्चों के खिलौने, सिलाई, लेबल चिपकाना, स्क्रेप से सामान छाँटना, पुराने टायरों से धातु के तार निकालना, मूँगफली या बादाम तोड़ना, दस्तानों व मोज़ों की छँटाई जैसे अनगिनत काम होते हैं और एक बहुत बड़ी आबादी इनमें लगी हुई है। अर्जुन सेनगुप्ता कमेटी की 2006 की रिपोर्ट के मुताबिक देश में आठ करोड़ से ज़्यादा स्त्रियाँ घर पर रहकर कोई न कोई काम करती हैं। इनमें से 80 प्रतिशत स्त्रियाँ पीस रेट पर काम करती हैं।

देश की तरक्की के लम्बे-चौड़े दावे किये जा रहे हैं। सकल घरेलू उत्पाद में ज़बरदस्त बढ़ोत्तरी दिखायी जा रही है। मगर इस तरक्की में इन औरतों के श्रम का योगदान किसी को कहीं नहीं दिखायी देता है। अपने सारे घरेलू काम करने के अलावा ये औरतें 10-12 घण्टे काम करती हैं। बेहद कम मज़दूरी पर ये हाड़ गलाकर, आँख फोड़कर दिन-रात सबसे ज़्यादा मेहनत वाले, उबाऊ और थकाऊ कामों में लगी रहती हैं। कई स्त्रियाँ इसलिए भी घर पर काम करती हैं क्योंकि अपने छोटे बच्चों को घर छोड़कर फैक्ट्री में नहीं जा सकती हैं, या फैक्ट्री के माहौल के कारण वहाँ जाकर काम नहीं करना चाहतीं। कुछ महिलाएँ अपने पिछड़ेपन या पति के पिछड़ेपन की वजह से बाहर काम नहीं करना चाहती हैं, और इन वजहों से भी मालिकों की चाँदी हो जाती है। एक तो उन्हें बहुत कम मज़दूरी देनी पड़ती है, दूसरे, जगह के किराये, पानी-बिजली, मशीन-औज़ार, मेण्टेनेंस जैसे खर्चों से छुटकारा मिल जाता है। इनका भयंकर शोषण होता है, इन्हें कोई भी सामाजिक सुरक्षा नहीं मिलती, कोई श्रम क़ानून इन पर लागू नहीं होता है। किसी भी सरकारी विभाग में इन्हें मज़दूर माना ही नहीं जाता। लेकिन सबसे बुरी बात तो ये है कि ये औरतें खुद को मज़दूर मानती ही नहीं हैं, उन्हें लगता है कि अपने ख़ाली समय में या घर पर बैठे-बैठे थोड़ा-बहुत कमा लेती हैं जिससे बच्चों को थोड़ा बेहतर खाने को मिल जाता है या कर्ज़ का बोझ कुछ कम हो जाता है।

काम करने की बेहद ख़राब परिस्थितियों के कारण ये तमाम तरह की बीमारियों की शिकार होती हैं, गर्दन, पीठ, कमर, टाँगों, सिर और पेट में दर्द, घुटनों में सूजन, उँगलियों में अकड़न, आँखों से पानी गिरना, साँस व फेफड़े की बीमारियाँ, काँच, तेज़ाब, केमिकल आदि से कटना, जलना, घाव हो जाना। ज़्यादातर औरतें इन तकलीफ़ों के बावजूद इलाज़ नहीं कराती, और चुपचाप काम में लगी रहती हैं।

साल 2008 में एक संस्था के सर्वेक्षण के मुताबिक़ ज़्यादातर औरतें घर के अन्य सदस्यों के साथ मिलकर रोज़ 7-8 घण्टे काम करके रोज़ाना औसतन 32-33 रुपये ही कमा पाती हैं। इन्हें महीने में औसतन 16 दिन ही काम मिल पाता है। अगर लगातार काम मिले तो भी दिनों-रात काम करके पीस रेट से कोई औरत मज़दूर ज़्यादा से ज़्यादा 3000 रुपये महीना ही कमा पाती है, लेकिन ऐसी औरतें कम ही हैं। इतने कम पैसे मिलने पर भी वे काम छोड़ नहीं सकती क्योंकि हज़ारों दूसरी औरतें काम के इन्तज़ार में बैठी रहती हैं।

इन औरतों में से सिर्फ़ छह प्रतिशत ऐसी हैं जिनके घर में किसी के पास परमानेंट नौकरी है। ज़्यादातर के पिता या पति दिहाड़ी, कैजुअल या टेम्परेरी मज़दूर हैं या खुद कोई छोटा-मोटा काम-धन्धा करते हैं। कई ऐसे भी हैं जहाँ पूरा परिवार मिलकर घर पर पीस रेट पर काम करता है। इनमें आधी से ज़्यादा महिलाएँ कर्ज़ में डूबी हैं। 93 प्रतिशत औरतों के पास अगले महीने के लिए या हारी-बीमारी के दिनों के लिए कुछ भी नहीं बच पाता।

ज़्यादातर स्त्रियाँ ठेकेदारों से काम लाकर करती हैं या आस-पास की फ़ैक्ट्रियों से खुद काम लाती हैं। माल लाना और पहुँचाना भी अपने खर्च पर करना पड़ता है। गिनती या तौल में मामूली-सा फ़र्क होने पर भी ठेकेदार काफ़ी पैसे काट लेता है। कम पढ़ी-लिखी या अनपढ़ होने के कारण वे इनके हिसाब में गड़बड़ी भी करते हैं। ज़्यादातर औरतों को सुई, धागा, कैंची, हथौड़ी, प्लास, सीरिज, कढ़ाई के फ्रेम जैसी चीज़ें भी अपने पास से ही ख़रीदनी पड़ती हैं।

पिछले 20-22 वर्षों में जो आर्थिक नीतियाँ पूरी दुनिया में लागू हुई हैं उसमें एक कारख़ाने के भीतर होने वाली 'फैक्ट्री असेम्बली लाइन' को एक दूसरे से जुड़ी अलग-अलग इकाइयों में बाँटकर पूरी दुनिया में फैला दिया गया है और ग़रीब देशों की स्त्रियों की भारी आबादी को इससे जोड़कर पूँजी की सबसे निचली कोटि का उज़रती गुलाम बना दिया है। छोटे-छोटे दड़बों जैसे कमरों में काम करने वाली औरतें भी कई ठेकेदारों और छोटी कम्पनियों से होते हुए ऊपर बैठे बड़े मालिकों के लिए सस्ते श्रम का भण्डार बन चुकी हैं। ऑटो पार्ट्स और मोबाइल व कम्प्यूटर के पुर्जों से लेकर गारमेण्ट एक्सपोर्ट करने वाली बड़ी कम्पनियाँ तक उनकी मेहनत की लूट से मालामाल हो रही हैं।

यह एक ऐसी मज़दूर आबादी है जो आज अपने हक़ के लिए आवाज़ उठा ही नहीं सकती है। स्थापित ट्रेड यूनियनों की कार्यसूची में भी ये औरतें और उनकी माँगें कहीं नहीं आती हैं। बस सिर्फ़ आनुष्ठानिक तरीक़े से कभी-कभार इनके बारे में भी वे कुछ बातें कह देते हैं जिनका कोई मतलब नहीं होता है। मगर क्रान्तिकारी मज़दूर कार्यकर्ताओं के सामने इन मज़दूर स्त्रियों को संगठित करना आज एक बड़ी चुनौती है। सबसे पहले तो उन्हें इस बात का अहसास कराना होगा कि वे जो काम करती हैं उसकी श्रमशक्ति के वास्तविक मूल्य का एक छोटा-सा हिस्सा भी उन्हें नहीं मिलता है।

पीस रेट पर काम करने वाले मज़दूरों की सबसे पहली माँग यह बनती है कि उन्हें "स्वरोज़गार" की श्रेणी में रखने के बजाय उस मालिक या कांट्रैक्टर का कर्मचारी माना जाये जिसके लिए वे काम करते हैं। अलग-अलग उद्योगों में जितनी न्यूनतम मज़दूरी तय हो और एक कार्य दिवस में औसतन जितने पीस तैयार हो सकते हैं, उस न्यूनतम मज़दूरी की राशि में पीसों की संख्या से भाग देकर न्यूनतम पीस रेट तय किया जाना चाहिए। उन्हें ठेका मज़दूरों को कानूनन मिलने वाले सभी अधिकार व सुरक्षा मिले।

बाक्स

घर पर होने वाले कुछ कामों के रेट –

एक बोरी मूँगफली छीलना 30 रुपये

24 इंच की माला बनाना 30 पैसे

एक किलो टूटे काँच से गोल काँच की छँटाई 1 रुपया

144 हेयर बैण्ड बनाना 1 रुपया

144 चाभी के छल्ले बनाना 1 रुपया

144 पैकेटों में बिन्दी चिपकाना 4 रुपये

एक लेडीज़ सूट की सिलाई 20-25 रुपये

मोती की 100 चूड़ियाँ 7 रुपये

खिलौनों के लिए 144 सीटियाँ बनाना 60 पैसे

1000 शीशियों में चूना भरना 1 रुपये

पिछले 15-16 सालों में ज़्यादातर कामों का रेट नहीं बढ़ा है, या बहुत ही कम बढ़ा है, कुछ कामों का रेट तो और भी कम हो गया है।

मज़दूर बिगुल, अप्रैल 2012

स्त्री मज़दूर सबसे अधिक शोषित-उत्पीड़ित हैं उन्हें साथ लिये बिना मज़दूर आन्दोलन बड़ी जीतें नहीं हासिल कर सकता!

मज़दूर माँगपत्रक आन्दोलन 2011

कहा जाता है कि पूँजीवादी अट्टालिका की बुनियाद में स्त्री मज़दूरों और बाल मज़दूरों की हड्डियाँ दबी हुई हैं। जब पूँजीवाद का युग आया तो सबसे सस्ते में पूँजीपतियों को इन्हीं की श्रम शक्ति मिलती थी और ज़्यादा से ज़्यादा पूँजी-संचय के लिए वे इनकी हड्डियाँ निचोड़ डालते थे।

कार्ल मार्क्स ने अपनी महान पुस्तक पूँजी खण्ड-1 में, उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में अत्यधिक काम से स्त्री मज़दूरों की मौतों की, खदानों में औरतों और बच्चों से जानवरों की तरह काम लेने और नहरों में नाव खींचने के लिए घोड़ों के बजाय औरतों का इस्तेमाल किये जाने जैसे चलनों की चर्चा की है।

आज निजीकरण-उदारीकरण के दौर में, भारत जैसे देश में स्त्री मज़दूरों की जो भीषण दुर्दशा है, उसकी चर्चा से पहले ज़रूरी है कि आम तौर पर, पूँजीवाद के अन्तर्गत स्त्री मज़दूरों की विशेष स्थिति और उनके शोषण के स्वरूप को समझ लिया जाये।

एक मज़दूर भरण-पोषण के लिए अपनी श्रम शक्ति को माल के रूप में पूँजीपति को बेच देता है। पूँजीपति उससे दिन में सुनिश्चित घण्टों तक काम लेने का अधिकार पा जाता है। मज़दूर का दैनिक श्रम काल दो हिस्सों में बँटा होता है : (i) आवश्यक श्रम के घण्टे और (ii) अतिरिक्त श्रम के घण्टे। आवश्यक श्रम के घण्टों के दौरान मज़दूर उतना मूल्य उत्पादित करता है जो उसकी श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन के लिए ज़रूरी है। बाकी समय (अतिरिक्त श्रम के घण्टे) में वह पूँजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करता है। मज़दूर को जो मज़दूरी मिलती है वह उसे पूरे दिन के श्रम का भुगतान लगती है, जबकि वास्तव में उसे 'आवश्यक श्रम काल' में उत्पादित मूल्य के बराबर ही मज़दूरी मिलती है। इस तरह उसके द्वारा किया जाने वाला अतिरिक्त श्रम

पूँजीपति उससे बगैर कोई भुगतान किये ही हासिल कर लेता है।

पूँजीवादी समाज में श्रम शक्ति एक माल होती है और मूल्य का एक स्रोत होती है, लेकिन स्वयं इसके पुनरुत्पादन की प्रक्रिया को पूँजीवादी उत्पादन के दायरे से बाहर ही रखा जाता है। एक बार मज़दूरी (श्रम का मूल्य) का एक निश्चित दर पर भुगतान करने के बाद, पूँजीपति को इस बात से कोई मतलब नहीं होता कि मज़दूर अपने को काम करने लायक बनाये रखने के लिए तथा मज़दूरों की नयी पीढ़ी को परवरिश करके तैयार करने के लिए क्या करता है और कैसे करता है! मज़दूर को श्रम के बदले जो मज़दूरी दी जाती है, उसका आधार बाज़ार से ज़रूरी चीज़ों और सेवाओं को ख़रीद पाने की क्षमता को बनाया जाता है। लेकिन महज इतने से ही श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन सम्भव नहीं हो सकता। बाज़ार से लायी चीज़ों को उपयोग लायक बनाने के लिए घर में नाना प्रकार के श्रम करने पड़ते हैं। अगली पीढ़ी को तैयार करने के लिए पूरे परिवार (बुजुर्गों सहित) की देखभाल से लेकर सैकड़ों प्रकार के घरेलू काम करने पड़ते हैं। परिवार के दायरे में होने वाले इस घरेलू श्रम की मुख्य ज़िम्मेदारी स्त्रियों की होती है। यानी 'आवश्यक श्रम' के 'सामाजिक हिस्से' का मूल्य बाज़ार से ख़रीदी जाने वाली आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के बराबर होता है। दूसरा इसका 'घरेलू हिस्सा' होता है जो परिवार और घर में किये जाने वाले श्रम का होता है।

पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली सामाजिक श्रम और घरेलू श्रम के विभाजन को पुख्ता बनाता है। उद्योगीकरण घरेलू श्रम और सामाजिक श्रम के बीच स्थान और काल का अन्तर बनाता और बढ़ाता है।

पूँजीवादी व्यवस्था में सारा लेखा-जोखा इस बात को लेकर होता है कि ज़्यादा से ज़्यादा अधिशेष कैसे पैदा हो, यानी ज़्यादा से ज़्यादा अतिरिक्त श्रम कैसे निचोड़ा जाये। अतिरिक्त श्रम के दायरे से घरेलू श्रम को अलग कर देने का नतीज़ा यह होता है कि घरेलू श्रम आर्थिक लेखा-जोखा से बाहर हो जाता है और 'अदृश्य' हो जाता है। इससे राष्ट्रीय आय के कुल बँटवारे में पूँजी की हिस्सेदारी बढ़ जाती है और श्रम की हिस्सेदारी कम हो जाती है। पूँजीवादी बाज़ार के नियमों के अनुसार भी, मज़दूरों को जो मज़दूरी मिलती है वह श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन की ज़रूरतों की आंशिक पूर्ति ही कर पाती है। इस तरह परिवार के पुराने पुरुष वर्चस्ववादी ढाँचे के तथा स्त्रियों की पुरानी घरेलू गुलामी

को पूँजीवाद नये भौतिक आधार पर स्थापित करता है और उनके श्रम की उपेक्षा करके ज़्यादा अधिशेष निचोड़ने में सफल रहता है।

श्रम के पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम के घरेलू अंश की अधिकांश ज़िम्मेदारियाँ मज़दूर परिवारों की स्त्रियाँ ही उठाती हैं। दूसरी ओर आवश्यक श्रम के सामाजिक अंश की ज़िम्मेदारी उठाने वाले पुरुष मज़दूर को इतनी मज़दूरी नहीं मिलती कि वह पूरे परिवार की न्यूनतम ज़रूरतों को भी आसानी से पूरा कर सके। एक व्यक्ति की आमदनी से परिवार नहीं चल पाता। तब औरतों की मजबूरी हो जाती है कि वे सीधे तौर पर, आवश्यक सामाजिक श्रम में भी भागीदारी करें। पूँजीवादी समाज में उनकी दोहरी भूमिका हो जाती है। वे घरेलू श्रम भी करती हैं और उजरती मज़दूरी (वेज लेबर या पगार पर मज़दूरी) भी करती हैं।

मशीनों ने शारीरिक बल के अतिशय प्रयोग को अनुपयोगी बना दिया और स्त्रियों-बच्चों सहित मज़दूर परिवार के अधिकांश सदस्यों को मज़दूरी करने में लगाकर पूँजी का प्रत्यक्ष दास बना दिया। पूँजीवाद एक ओर जहाँ स्त्रियों के उजरती मज़दूरों की कतार में शामिल कर रहा था, वहीं वह यह भी चाहता था कि परिवार श्रम के पुनरुत्पादन की इकाई बना रहे, स्त्रियाँ बिना किसी एवज़ के सामाजिक श्रम करती रहें और राष्ट्रीय आमदनी के कुल बँटवारे में पूँजी के मुक़ाबले श्रम का हिस्सा कम बना रहे। ये परस्पर-विरोधी स्थितियाँ पूँजीवादी श्रम-प्रक्रियाओं के गठन में गुँथी-बुनी रहती हैं। स्त्रियों को तरह-तरह से ऐसी "सहूलियतें" दी जाती हैं कि वे अपनी तमाम घरेलू ज़िम्मेदारियों को निपटाने के साथ-साथ उजरती मज़दूरी कर सकें। उनकी सुविधा के हिसाब से काम की पाली रखी जाती है, उन्हें पार्टटाइम और कैजुअल कामों पर रखा जाता है और पीस रेट पर काम दिये जाते हैं ताकि वे घर पर चूल्हे-चौके, बाल-बच्चे आदि की साज-सम्हार करते हुए काम कर सकें। पुरुष स्वामित्ववादी सामाजिक-पारिवारिक संरचना में स्त्रियों, और पूरे मज़दूर वर्ग के, दिमाग में यह बात भर दी जाती है कि "घर का काम निपटाते हुए औरतें कुछ ऊपरी कमाई कर ले रही हैं और पारिवारिक बोझा हल्का करने में हाथ बँटा रही हैं" (इसमें यह भी निहित होता है कि घरेलू काम ही उनकी मुख्य और स्वाभाविक ज़िम्मेदारी होती है) और फिर इसका पूरा लाभ उठाकर उन्हें कम वेतन वाली, अकुशल, अर्द्धकुशल और अनियमित श्रम-प्रक्रियाओं तक सीमित रखा जाता है। यही नहीं, समान काम के लिए भी उन्हें पुरुषों के मुक़ाबले कम वेतन दिया जाता है।

आज भी, माइक्रोचिप, गारमेण्ट्स, खाद्य-प्रसंस्करण आदि तमाम नये उद्योगों में सर्वाधिक श्रमसाध्य तथा सेहत पर बेहद खराब प्रभाव डालने वाले बारीक कामों में ठेका या पीसरेट पर स्त्री मज़दूरों को लगाया जाता है। उन्नत मशीनी काम करने पर भी उन्हें अकुशल या अर्द्धकुशल माना जाता है और कार्यस्थल की सुविधाओं पर भी मालिक कम से कम खर्च करके मज़दूरी पर खर्च घटाने और मुनाफा बढ़ाने का काम करते हैं। परिवार में संसाधनों पर पुरुषों का अधिकार होता है, फैसले की ताकत उनके हाथों में होती है और घरेलू कामों का सारा बोझ स्त्रियों पर होता है। दूसरी ओर, बाहर काम करने की जगहों पर भी उनकी स्थिति दोयम दर्जे की होती है, उनका श्रम सस्ता होता है, काम की परिस्थितियाँ कठिन होती हैं और जनवादी अधिकार बेहद कम होते हैं।

उद्योगीकरण के अलग-अलग दौरों और पूँजी-संचय की प्रक्रिया के अलग-अलग चरणों में विभिन्न तरीकों से स्त्रियों को उन निकृष्टतम कोटि की उजरती मज़दूरों की कतारों में शामिल किया गया जो सबसे सस्ती दरों और सबसे आसान शर्तों पर अपनी श्रम शक्ति बेच सकती हों, सबसे कठिन हालात में काम कर सकती हों और घरेलू श्रम की ज़िम्मेदारियों के चलते संगठित होकर पूँजीपतियों पर सामूहिक सौदेबाज़ी का दबाव बना पाने की क्षमता जिनमें कम हो।

पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया का बुनियादी गुण है — पूँजी संचय, और पूँजी संचय के निरन्तर जारी रहने के लिए ज़रूरी है कि राष्ट्रीय आय में मज़दूरी का हिस्सा बढ़ने न दिया जाये। पूँजीवादी समाज में बेरोज़गार, अर्द्धबेरोज़गार, आंशिक व सीज़नल काम करके गुजारा करने वाले कामगारों की एक ऐसी रिज़र्व श्रमशक्ति हरदम मौजूद रहती है, जो पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया में नियमित सक्रिय भागीदारी नहीं करती, लेकिन पूँजीपतियों को जब ज़रूरत हो तब काम में लगा देने के लिए उपलब्ध रहती है। मज़दूरों की इस रिज़र्व सेना की मौजूदगी से, श्रम बाज़ार में लगातार यह दबाव बना रहता है कि मज़दूरी की दरें बढ़ने न पायें। काम करने वाले मज़दूरों की सामूहिक सौदेबाज़ी की ताकत कम हो जाती है। इस रिज़र्व सेना में केवल बेरोज़गार-अर्द्धबेरोज़गार मज़दूर ही शामिल नहीं होते। खेती-बाड़ी और उससे जुड़े कई एक पूँजीवादी उत्पादन के ढाँचे से बाहर के कामों में लगकर गुजर-बसर करने वाली ग़रीब आबादी, पूँजीवादी खेती के कामों से फाज़िल हो चुकी आबादी और घरेलू कामों में लगी कामगार परिवारों की स्त्रियाँ भी मज़दूरों की उक्त रिज़र्व सेना का हिस्सा होती

हैं। रिज़र्व सेना का यह हिस्सा पूँजीपतियों के लिए प्रत्यक्ष बेरोज़गारों से अधिक सुविधाजनक होता है। जब पूँजीवादी उत्पादन तन्त्र में श्रम की माँग बढ़ती है तो रिज़र्व सेना के इस हिस्से को कम से कम पगार पर उत्पादन कार्य में लगा दिया जाता है। इससे श्रम की माँग में आयी उछाल से मज़दूरी की दर में पैदा होने वाली स्वाभाविक वृद्धि रुक जाती है। फिर अगले दौर में श्रम की माँग में जब कमी आ जाती है, तो औरतों को उनकी घरेलू भूमिका में आसानी से वापस भेजा जा सकता है, इससे समाज में प्रत्यक्षतः न तो बेरोज़गारी बढ़ती दीखती है, न ही कोई सामाजिक-राजनीतिक संकट पैदा होता है।

पूँजीवाद के इतिहास में कई बार ऐसा भी हुआ कि श्रम की अतिरिक्त माँग नहीं होने पर भी मज़दूर आन्दोलन की संगठित ताक़त के चलते मज़दूरी की दरों में वृद्धि हो जाती थी। तब नयी तकनीक और उत्पादन प्रक्रिया के पुनर्गठन के द्वारा पूँजी श्रम की माँग को घटाने की कोशिश करती थी। नयी तकनीक संख्या की दृष्टि से श्रम की माँग घटाने की साथ ही कार्य की परिभाषा और कुशलता का पैमाना ही बदल डालती थी। इससे श्रम की माँग का पूरा ढाँचा भी बदल जाता था। उन्नीसवीं सदी में इंग्लैण्ड के कपड़ा उद्योग में यही हुआ। पहले बुनाई-कताई में मानवश्रम का अधिक इस्तेमाल होता था। फिर मशीनों का उपयोग बढ़ा और शारीरिक ताक़त की जगह उँगलियों की फुर्ती ने ले ली। इससे न केवल कुल श्रम की माँग में कमी आई बल्कि पुरुष मज़दूरों का स्थान बड़े पैमाने पर स्त्री मज़दूरों व बाल मज़दूरों ने ले लिया। मिलों में स्त्री मज़दूरों को बेहद कम वेतन पर कठिन स्थितियों में और प्रतिकूल सेवा शर्तों पर काम करना पड़ता था और कार्यस्थल पर उनका शोषण भी होता था। साथ ही, समूचे मज़दूर वर्ग पर भी इस नयी स्थिति का भयंकर असर पड़ा।

पूँजी के विरुद्ध मज़दूर वर्ग का संघर्ष यूरोप और अमेरिका में जब आगे बढ़ा तो उसमें स्त्री मज़दूरों की भी भूमिका बढ़ी। पेरिस कम्यून (1871) में स्त्री कम्युनार्डों ने भी शौर्यपूर्ण भूमिका निभाई थी। काम के घण्टों के आन्दोलन में भी उनकी शिरक़त थी, हालाँकि ट्रेड यूनियन आन्दोलनों में स्त्री मज़दूरों के प्रति पुरुष मज़दूरों का व्यवहार मैत्रीपूर्ण नहीं था। समाजवादियों द्वारा राजनीतिक शिक्षा और स्त्री मज़दूरों द्वारा पुरुष-स्वामित्व की संस्कृति के विरुद्ध लगातार संघर्ष से स्थिति में बदलाव आया। मज़दूर हड़तालों में स्त्री मज़दूरों की जुझारू भूमिका ने भी पुरुष मज़दूरों की सोच बदलने में भूमिका निभाई। 1880 के आसपास, ट्रेड यूनियनों में भागीदारी बढ़ने के साथ-साथ स्त्री मज़दूरों के

स्वतन्त्र संगठन बनने लगे। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में यूरोप में जब ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर सुधारवादी काबिज़ हो गये थे तो बड़े पैमाने पर इसका असर स्त्री मज़दूरों की स्थिति पर भी पड़ा। जर्मनी में (जहाँ स्त्री मज़दूर आन्दोलन काफी सशक्त रहा था) लाखों स्त्री मज़दूरों को उजरती मज़दूरों की पाँतों से वापस घरों की चारदीवारी में धकेल दिया गया था। इसी बीच अक्टूबर 1917 में सोवियत संघ में मज़दूर क्रान्ति के बाद दुनिया की पहली समाजवादी सत्ता अस्तित्व में आयी। इस क्रान्ति में स्त्री मज़दूरों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। क्रान्ति के बाद, भुखमरी और गृहयुद्ध के वर्षों से जूझकर सोवियत सत्ता जैसे ही सुस्थिर हुई, वैसे ही स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में अभूतपूर्व बदलाव आया। देखते ही देखते, घरेलू गुलामी के बन्धनों से बाहर निकलकर करोड़ों स्त्रियाँ उत्पादक गतिविधियों और समाजवाद के निर्माण में सक्रिय भागीदारी करने लगीं। केवल क़ानूनी तौर पर ही उन्हें समानता के अधिकार नहीं मिले, बल्कि वास्तविक जीवन में भी मिले। राजनीति और प्रबन्धन के कामों में उनकी भागीदारी बढ़ी। इसका पूरी दुनिया के मज़दूर आन्दोलन पर और स्त्री मज़दूरों पर प्रभाव पड़ा। पूँजीवादी सत्ताओं पर दबाव बढ़ा और पहली बार स्त्री मज़दूरों के अधिकार सुनिश्चित करने वाले कुछ क़ानून बने। साम्राज्यवादियों का आपसी अन्तरविरोध भी एक कारण था। अन्तरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के कन्वेंशंस ने दबाव बनाया कि उपनिवेशवादी देश अपने देशों के अतिरिक्त उपनिवेशों में भी स्त्री मज़दूरों को कुछ अधिकार देने वाले क़ानून बनायें। लेकिन बदलाव के मुख्य कारण स्त्री मज़दूरों के संघर्ष, समाजवाद का प्रभाव और समूचे मज़दूर वर्ग के संघर्षों का अग्रगामी विकास थे।

भारत में स्त्री मज़दूरों का इतिहास उतना ही पुराना है जितना उद्योगों का इतिहास। 1818 में बावरिया (हावड़ा) में पहली कपड़ा मिल खुली थी तो उसमें भारतीय स्त्री मज़दूरों को काम सिखाने के लिए लंकाशायर से फैक्ट्री गर्ल्स लायी गयी थीं। चाय बागानों में शुरू से ही स्त्रियाँ मज़दूरी कर रही थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से जूट, टेक्सटाइल, माइनिंग आदि उद्योगों की स्थापना में तेजी आयी और इन सबमें स्त्री मज़दूर अच्छी-खासी तादाद में काम कर रही थीं। उनकी दशा उतनी ही भयंकर थी जितनी 19 वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटेन की स्त्री मज़दूरों की थी (जिसका चित्रण पूँजी खण्ड-एक के कुछ पृष्ठों पर भी देखने को मिलता है)। उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें-नवें दशक में भारत के औद्योगिक मज़दूरों में 25 प्रतिशत हिस्सा स्त्री मज़दूरों का था। सभी

मज़दूरों की दशा नारकीय थी, पर स्त्री मज़दूरों की दशा पुरुष मज़दूरों से दूनी बदतर थी। आर्थिक शोषण के अतिरिक्त सामाजिक तौर पर भी उन्हें लांछित-अपमानित जीवन जीना पड़ता था। समाज में कारख़ाना मज़दूर औरतों की छवि "बुरी स्त्री" की होती थी। भारत में पूँजी लगाकर ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने वाली उद्योगपति लॉबी से ख़तरा महसूस करने वाली मैचेंस्टर लॉबी के उद्योगपतियों के दबाव में 1881 में भारत का पहला कारख़ाना क़ानून बना था। उसी समय बहुतेरे ब्रिटिश और भारतीय समाज सुधारकों ने भारतीय स्त्री मज़दूरों की जीवन स्थिति में सुधार के लिए जब क़ानूनी क़दम की माँग की तो मैचेंस्टर लॉबी के ब्रिटिश उद्योगपतियों ने अपने स्वार्थवश उनका समर्थन किया था। बीसवीं शताब्दी के पहले दशक तक मज़दूर हड़तालों में स्त्री मज़दूरों की भागीदारी के अथवा उनके अपने स्वतन्त्र आन्दोलनों के दस्तावेज़ी प्रमाण नहीं मिलते हैं। दूसरे दशक के अन्तिम कुछ वर्ष भारतीय मज़दूर आन्दोलन के तेज़ी से संगठित होने के वर्ष थे और समूचा तीसरा दशक हड़तालों और मज़दूर संघर्षों की देशव्यापी लहर का दशक था। ग़ौरतलब है कि इस समय टेक्साइल उद्योग में लगभग 20 प्रतिशत, जूट उद्योग में 25 प्रतिशत तथा माइनिंग और प्लाण्टेशन में 50 प्रतिशत आबादी स्त्री मज़दूरों की थी। 1920 के दशक की मज़दूर हड़तालों में, बम्बई, कलकत्ता और अन्य औद्योगिक केन्द्रों में स्त्री मज़दूरों ने जुझारू भूमिका निभाई थी। स्त्री मज़दूर दब्बू और आसानी से नियन्त्रण में रखने लायक श्रमशक्ति होती है, मालिकों की यह धारणा टूटने लगी थी। तत्कालीन बम्बई के जुझारू ट्रेड यूनियन हड़तालों में स्त्री मज़दूरों की अग्रणी भूमिका थी। इसी समय विशेष तौर स्त्री मज़दूरों की छँटनी की शुरुआत हुई, जिसके खिलाफ 1926 से 1933 के बीच स्त्री मज़दूरों की कई हड़तालें (अकेले 1932-33 में 12) हुईं। यूनियनों ने भी स्त्री मज़दूरों की इन हड़तालों का समर्थन किया, क्योंकि साझा हड़तालों में स्त्री मज़दूरों की भूमिका अग्रणी रही थी और बम्बई के पुरुष मज़दूरों पर भी वाम प्रभाव के कारण पुरुषवादी संस्कारों का प्रभाव कम था। भूमिगत कामों में स्त्री मज़दूरों पर रोक के बाद कोयला उद्योग में स्त्रियों की संख्या में तेज़ गिरावट आयी। अब प्लाण्टेशन ही एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें स्त्रियाँ पर्याप्त संख्या में कार्यरत थीं। बंगाल के जूट उद्योग में स्त्री मज़दूरों की छँटनी इतनी तेज़ी से हुई कि उनका प्रतिशत भाग 25 प्रतिशत से घटकर 2 प्रतिशत हो गया।

औद्योगिक मज़दूरी के कामों से स्त्री मज़दूरों के बाहर किये जाने का यह

सिलसिला 1950 के दशक तक, यानी सभी बड़े उद्योगों के मज़दूरों के लगभग पूर्ण यूनियनीकरण होने तक लगातार जारी रहा। 1950 के बाद राजकीय क्षेत्र में जितने भी बड़े कारख़ाने लगे, खदान शुरू हुए, बाँध बने, उनमें स्त्री मज़दूरों की भरती नगण्य रही। जो पहले से उद्योगों में काम कर रही थीं, वे स्त्रियाँ भी नेहरूकालीन आधुनिक "कल्याणकारी राज्य" और उद्योगीकरण के दौर में फिर से घरेलू चौहदियों के भीतर धकेल दी गयीं। हाँ, सदियों से घरेलू गुलामी के साथ-साथ जिन कृषि कार्यों और परम्परागत घरेलू एवं कुटीर उद्योगों (कताई, करघा, रंगसाज़ी आदि) में वे काम करती आई थीं, वह यथावत् जारी रहे। प्लांटेशन के अतिरिक्त निर्माण उद्योग और ईंट भट्ठा उद्योग में स्त्री मज़दूरों की भारी आबादी कार्यरत थी जहाँ काम के घण्टे या न्यूनतम मज़दूरी जैसे किसी भी क़ानूनी अधिकार का उनके लिए कोई मतलब नहीं होता था।

आख़िर क्या कारण था कि 1930 के दशक से उद्योगों से इतने बड़े पैमाने पर स्त्री मज़दूर बाहर होती रहीं और 1960 के आसपास तक उनकी भागीदारी बस नाममात्र की ही रह गयी? इसके कारणों को समझना स्त्री मज़दूरों के लिए और समूचे मज़दूर आन्दोलन के लिए बेहद ज़रूरी है।

पहली बात तो यह थी कि 1920 के दशक की हड़तालों में स्त्रियों की जुझारू भूमिका ने मालिकों के इस भ्रम को तोड़ दिया था कि स्त्री मज़दूरों को दबाकर रखना और उनसे सस्ते में ज़्यादा काम ले लेना अधिक आसान होता है। स्त्री मज़दूर अब बेहतर सुविधाओं और वेतन-वृद्धि की माँग अलग से और साझा यूनियन मंचों से खुलकर (विशेषकर बम्बई में) उठाने लगी थीं। उधर राष्ट्रीय आन्दोलन में भी स्त्रियों की भागीदारी बढ़ रही थी। उपनिवेशवादी शासक इन दोनों चीज़ों को जोड़कर देख रहे थे। श्रम संघर्षों के दबाव में तथा समाजवाद के प्रभाव को कम करने के लिए इसी समय दुनिया में क़ानून बनाकर मज़दूरों को कुछ छूट एवं अधिकार देने की लहर चल रही थी। अन्य साम्राज्यवादियों का भी दबाव था कि ब्रिटेन भी अपने उपनिवेशों में श्रम क़ानून लागू करे और इस माँग को एक हद तक मानना ब्रिटेन की भी मजबूरी थी। मज़दूर वर्ग को अतिसीमित ही सही, पर कुछ क़ानूनी अधिकार मिले और इसी क्रम में स्त्रियों को भी मातृत्व अवकाश जैसे कुछ क़ानूनी अधिकार मिले। पिछली हड़तालों ने मालिकों की निगाहों में स्त्री मज़दूरों की दब्बू और गुलामों की तरह मेहनत करने वाली छवि को तो पहले ही तोड़ दिया था। अब उनकी श्रम शक्ति भी उतनी सस्ती नहीं रह गयी थी। इसलिए उन्हें औद्योगिक कार्यस्थलों से घरों की

चारदीवारी में धकेलने की प्रक्रिया शुरू हुई। एक बार फिर वे उस रिज़र्व सेना” का हिस्सा बना दी गयीं जिसका भय दिखलाकर (वह मन्दी का ज़माना था) मज़दूर वर्ग की श्रम शक्ति सस्ती से सस्ती दरों पर निचोड़ी जा सकती थी।

लेकिन इस पूरे मामले का एक दूसरा पहलू भी है, जो राजनीतिक पहलू होने के नाते, मज़दूर वर्ग के लिए और स्त्री मज़दूरों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। 1930 के दशक में मज़दूर आन्दोलन के नेतृत्व ने मज़दूर हितों को लेकर बातचीत-सौदेबाज़ी के दौरान स्त्री मज़दूरों की मांगों को हमेशा दरकिनार किया और स्त्री मज़दूरों की छँटनी को उन्होंने कभी भी मुद्दा नहीं बनाया। तब हालाँकि कम्युनिस्ट पार्टी अभी संशोधनवादी नहीं बनी थी, लेकिन दक्षिणपन्थी और अर्थवादी भटकाव उसमें गम्भीर रूप में मौजूद थे। हम याद करें कि जर्मनी और अन्य यूरोपीय देशों में संशोधनवादी पार्टियाँ स्त्रियों के कारखानों में मज़दूरी करने और ट्रेड यूनियन गतिविधियों में भाग लेने की विरोधी थी। पहले महायुद्ध के बाद, जर्मन सरकार ने जब लाखों महिला मज़दूरों को नौकरी से घरों में वापस भेज दिया था तो संशोधनवादी पार्टी व उसकी यूनियनों से जुड़े पुरुष मज़दूरों ने इस सरकारी फैसले का खुलकर समर्थन किया था। दुनिया में कहीं भी संशोधनवादी पार्टियाँ और उनसे जुड़ी पुछल्ली यूनियनें स्त्री मज़दूरों की समस्याओं और मसलों की यदि रस्मी तौर पर अपने चार्टर में शामिल कर भी लेती हैं तो उनपर कभी ज़ोर नहीं देती।

जो पार्टियाँ और उनकी यूनियनें केवल मज़दूरों के तात्कालिक आर्थिक हितों को लेकर ही लड़ने में मशगूल रहती हैं और पूँजीवाद विरोधी व्यापक वर्गीय मोर्चेबन्दी और मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन के बारे में सोचती तक नहीं, वे स्त्री मज़दूरों के हितों की लड़ाई क्रतई नहीं लड़ सकतीं। सत्ताधारियों से सौदेबाज़ी में स्त्री मज़दूरों के हितों का ही उनका नेतृत्व सबसे पहले सौदा करता है। पूँजीपति स्त्रियों की सहस्राब्दियों पुरानी पारिवारिक गुलामी का लाभ उठाकर उन्हें सबसे सस्ती श्रम शक्ति का आरक्षित स्रोत बनाये रखना चाहते हैं। स्वयं पुरुष मज़दूरों का बड़ा भाग भी पुरुष स्वामित्ववाद का शिकार होता है। वह सोचता है कि स्त्री बाहर जाकर काम करने के बजाय घर में ही बाल-बच्चे पालते हुए पीस रेट पर या पार्ट टाइम कुछ कर ले तो बेहतर है। वेतन यदि कुछ बेहतर हो जाये तो वह चाहता है कि औरत सिर्फ घर की साज-समहाल करे। पिछड़े समाजों में औरतों के बाहर काम करने को मर्द मज़दूर बेइज्जती मानता है और हिफाज़त के नाम पर उसे घरेलू गुलामी की बेड़ियों में कैद रखना चाहता

है। जो यूनियनों के सुधारवादी सौदेबाज़ नेता होते हैं वे खुद मर्दवादी होते हैं और पुरुष मज़दूरों की मर्दवादी मानसिकता से वे लड़ भी नहीं पाते क्योंकि उन्हें डर लगता है कि इससे उनका अपना समर्थन-आधार खिसक जायेगा। वे सर्वहारा वर्ग को यह बता ही नहीं सकते कि पूँजी के खिलाफ लड़ाई को तभी जीत की दिशा में बढ़ाया जा सकता है जब औरत-मर्द और जाति-धर्म का भेद मिटाकर सभी मज़दूर साथ आयें। आधी आबादी को घरों में कैद रखकर पुरुष मज़दूर अपनी मुक्ति नहीं हासिल कर सकते। जो आम पुरुष मज़दूर होता है, उसे यदि राजनीतिक रूप से शिक्षित नहीं किया जाये तो नाक के ठीक सामने का सच उसे यही दीखता है कि कम मज़दूरी पर औरतों के काम करने से उसकी नौकरी ख़तरे में पड़ जायेगी। जबतक उसे राजनीतिक-सांस्कृतिक रूप से शिक्षित नहीं किया जायेगा तब तक वह नहीं समझेगा कि स्त्री-पुरुषों की समान मज़दूरी और स्त्री मज़दूरों की माँगों को भी उठाकर जब वह लड़ेगा तो मज़दूर आन्दोलन की ताक़त कितनी बढ़ जायेगी। जबतक उसे राजनीतिक रूप से सचेत नहीं बनाया जायेगा तबतक बेरोज़गारों और स्त्री श्रम शक्ति की रिज़र्व सेना को बनाकर श्रम बाज़ार में पूँजी की मोल-तोल की ताक़त बढ़ाने तथा बेरोज़गारी के मूल कारणों के बारे में और पूँजीवादी शोषण के बुनियादी रहस्य के बारे में वह खुद नहीं समझ पायेगा। संशोधनवादी यह काम नहीं करते, क्योंकि उन्हें मज़दूर मुक्ति के लक्ष्य से कोई लेना-देना ही नहीं होता।

यूरोप-अमेरिका में, विश्वव्यापी मन्दी की समस्या के समाधान के लिए और समाजवाद के प्रभाव में आ रहे मज़दूरों के तुष्टीकरण के लिए, कीन्स द्वारा प्रस्तुत कल्याणकारी राज्य के नुस्खे के तहत, पूँजी और श्रम के बीच के अन्तरविरोधों को कम करने वाला एक समझौता फार्मूला निकाला गया। राष्ट्रीय आय में श्रम की भागीदारी सुनिश्चित की गयी, राज्य के खर्च से माँग प्रबन्धन की तरक़ीब निकाली गयी तथा मज़दूरों की सापेक्षिक रोज़गार सुरक्षा और अन्य लाभों की गारण्टी देने वाला एक व्यापक ढाँचा खड़ा किया गया। भारत जैसे नवस्वाधीन देशों में जनता की गाढ़ी कमाई से (और नियन्त्रित विदेशी पूँजी व तकनोलॉजी के सहकार के सहारे) पब्लिक सेक्टर में बुनियादी और ढाँचागत उद्योगों का जो विराट ढाँचा खड़ा किया गया, उसमें भी कीन्सवादी नुस्खे ही अपनाये गये। इन सेक्टरों के संगठित, यूनियनीकृत मज़दूरों को बेहतर वेतन और सेवा शर्तें मिलीं। फलतः जो निजी क्षेत्र के बड़े उद्योग थे, उनके संगठित मज़दूरों ने भी बेहतर सौदेबाज़ी करके अच्छी तनख्वाहें और रोज़गार सुरक्षा हासिल की।

लेकिन इन पिछड़े देशों की विडम्बना यह थी कि अधिकांश श्रम शक्ति अभी भी हाशिए पर थी। वह कृषि क्षेत्र के अतिरिक्त करघा, रंगसाजी, ईट-भट्टा, निर्माण उद्योग आदि में काम करती थी या बड़ी परियोजनाओं में ठेकेदारों के मज़दूरों के रूप में काम करती थी। स्त्री मज़दूर भी इन्हीं क्षेत्रों में काम करती थीं जहाँ न यूनियनों थीं न श्रम क़ानूनों की कोई सुरक्षा (वैसे संशोधनवादी पार्टियों ने रस्मी तौर पर कुछ साइनबोर्ड ज़रूर लटका रखे थे)। भारी मशीनरी, माइनिंग, बिजली आदि उद्योगों में स्त्रियाँ थी ही नहीं। 1930 के पहले टेक्सटाइल, जूट आदि जिन उद्योगों में उनकी भागीदारी 20-30 प्रतिशत तक थी वह अब घटकर 2 प्रतिशत तक पहुँच चुकी थी। मज़दूर संघर्षों में जुझारू भागीदारी का 40-50 वर्षों पुराना उनका इतिहास भुलाया जा चुका था। घरेलू गुलामी के अलावा, सर्वाधिक असंगठित सर्वहारा कतारों में वे अभी भी हाड़तोड़ मेहनत कर रही थीं और हाशिए का जीवन बिता रही थीं, लेकिन मज़दूर राजनीति के परिदृश्य पर उनकी आवाज़ कहीं मौजूद नहीं थी। अर्थवादी राजनीति ने बड़े उद्योगों के संगठित मज़दूरों को जो सुविधाएँ दिलवायी थीं, उनमें स्त्री मज़दूरों की कोई हिस्सेदारी नहीं थी। और मज़दूर आन्दोलन को इसका दण्ड जल्दी ही भुगतना पड़ा। यूँ तो दुनिया के स्तर पर पूँजीवादी लूट के तौर-तरीकों में बदलाव की प्रक्रिया 1980 का दशक शुरू होते ही शुरू हो गयी थी, पर भारत में निजीकरण-उदारीकरण के रूप में यह लहर 1990 के दशक में आयी। राज्य ने कीन्सवादी नुस्खों का परित्याग कर दिया। नयी तकनीक और नये तौर-तरीकों ने अनौपचारिकीकरण, ठेकाकरण की मुहिम चला दी। संगठित क्षेत्र के सुविधाप्राप्त मज़दूरों का हिस्सा सिकुड़कर छोटा से छोटा होता चला गया। ज़्यादा काम ठेके पर, पीस रेट पर, असंगठित क्षेत्र में होने लगे और बड़े-बड़े कारख़ानों तक में रोज़गार सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा में कटौतियाँ होने लगीं तथा थोड़े से कुशल, अनुभवी मज़दूरों को छोड़कर ज़्यादा काम ठेके पर ही कराया जाने लगा। करीब साठ वर्षों बाद फिर एक उल्टी प्रक्रिया चली। श्रमिक आबादी में औरतों की भागीदारी तेज़ी से बढ़ने लगी।

स्त्री सर्वहारा की भारी संख्या आज नयी तकनोलॉजी आधारित उत्पादन कार्यों में लगी है, पर सारा काम अनौपचारिक क्षेत्र में, ठेके पर, दिहाड़ी पर और पीसरेट पर होता है। इन स्त्री मज़दूरों को और तमाम असंगठित मज़दूरों को किसी प्रकार की रोज़गार सुरक्षा या सामाजिक सुरक्षा हासिल नहीं है। श्रम क़ानूनों का इनके लिए कोई मतलब नहीं है। आगे हम इस नये ढंग की

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में करोड़ों स्त्री मज़दूरों के अतिशोषण की, उनकी माँगों की और उनके संघर्ष की नयी तैयारियों की चर्चा करेंगे।

होड़ में टिके रहने के लिए पूँजीपति हमेशा माल उत्पादन की लागत कम करने की फ़िराक़ में सस्ते कच्चे माल और सस्ते श्रम की तलाश में लगे रहते हैं। इसी तलाश में 1960 के दशक से ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने तीसरी दुनिया के कुछ देशों में कारख़ाने लगाने शुरू कर दिये थे। हांगकांग और ताइवान, फिर मेक्सिको, दक्षिण कोरिया, थाईलैण्ड, सिंगापुर, फिलिपीन्स आदि देश उनके ठिकाने बने। इन देशों में आम तौर पर ही मज़दूरी काफ़ी कम थी, लेकिन स्त्रियों की मज़दूरी तो और भी कम थी। उत्पादन प्रक्रिया को छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटकर सस्ते से सस्ते दामों पर उत्पादन कराने की यह तरक़ीब जल्दी ही दुनिया के पैमाने पर पूँजीवादी विकास की मुख्य रणनीति बन गयी।

1970 के दशक तक नया अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन कायम हो चुका था। विकसित पूँजीवादी देशों ने सस्ते श्रम की लूट से अपनी लागत कम करने के लिए अपने यहाँ से श्रम.सघन उद्योगों को हटाकर तीसरी दुनिया के देशों में लगाना शुरू कर दिया था। भूमण्डलीकरण के दौर में इसमें और तेज़ी आयी जब तीसरी दुनिया के देशों की सरकारों ने विदेशी कम्पनियों के लिए दरवाज़े पूरे खोल दिये। इन देशों के पूँजीपति वर्ग के लिए ऐसा करने की अपनी मजबूरियाँ थीं। अपने देश की जनता को और लूटने के लिए औद्योगिक विकास तथा बाज़ार के विस्तार के वास्ते उसे विदेशी पूँजी और तकनोलॉजी की ज़रूरत थी। दूसरी ओर, विकसित पूँजीवादी देशों को बढ़ती अन्तरराष्ट्रीय होड़ में टिके रहने के लिए सस्ते श्रम की दरकार थी।

यूरोप के देशों और अमेरिका में स्त्री मज़दूर को एक घण्टे के काम के लिए जितनी मज़दूरी देनी पड़ती है, उससे भी कम पर जब एशिया या लातिनी अमेरिका के किसी देश में पूरे दिन की हाड़तोड़ मेहनत के लिए स्त्री मज़दूर मिल सकती हो, तो कम्पनियाँ इन देशों की ओर भला क्यों न दौड़ लगातीं? 1980 के दशक में एशिया में मलेशिया, थाईलैण्ड, ताइवान से लेकर लातिनी अमेरिका में मेक्सिको, ब्राज़ील, हैती, ग्वाटेमाला, प्वेर्तो रिको आदि देशों में ऐसे कारख़ानों और वर्कशॉपों की भरमार हो गयी जिनमें बर्बर हालात में, बहुत कम मज़दूरी पर लाखों-लाख औरतें बड़ी-बड़ी कम्पनियों के लिए सामान तैयार करने में लगी रहती थीं। छोटे-छोटे पुर्जों को जोड़कर बनने वाले खिलौने,

कपड़े, कम्प्यूटर के सामान, आलू चिप्स जैसे सैकड़ों उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन इन नरक जैसे कारखानों में होता था। पिछली सदी के अन्तिम दशक में, नयी आर्थिक नीतियाँ लागू होने के साथ ही भारत भी इन देशों की कतार में शामिल हो गया।

पहले दौर में, विश्व-बैंक, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और गैट के दबाव में लागू की गयी “संरचनागत समायोजन” की नीतियों के तहत यह सुनिश्चित किया गया कि पूँजी और श्रम के बीच से सरकार हट जाये और पूँजीपतियों को मनमानी शर्तों पर मज़दूरों से काम कराने, रखने और निकालने की पूरी छूट मिल जाये। मज़दूर आन्दोलन के पीछे हटने और बिखराव ने इस काम को और भी आसान बना दिया। लम्बे समय से अर्थवाद की दलदल में धँसी संशोधनवादियों की ट्रेड यूनियनों के पास मज़दूर अधिकारों पर इन हमलों से लड़ने की ताकत ही नहीं रह गयी थी। पिछले 10-15 वर्षों के दौरान नवउदारवादी नीतियों पर अन्धाधुन्ध अमल के दौर में, सरकार ने पूँजी और श्रम के सम्बन्धों के विनियमन से पूरी तरह हाथ खींच लिये और मज़दूरों को पूरी तरह पूँजीपतियों की लूट के हवाले कर दिया।

भारत जैसे देश, जो परम्परागत तौर पर विदेशों में निर्यात के लिए सूती कपड़े, आभूषण, चमड़े के सामान या दस्तकारी के सामानों तक सीमित थे, वे भी अब टुकड़ों में बँटी वैश्विक असेम्बली लाइन का हिस्सा बन गये। देश के भीतर भी बड़े उद्योगों ने उत्पादन का भारी हिस्सा छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर छोटे-छोटे कारखानों और वर्कशॉपों में कराना शुरू कर दिया जहाँ ज़्यादातर काम ठेका या पीसरेट पर काम करने वाले मज़दूर करते थे। उत्पादन का ज़्यादा से ज़्यादा काम असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र में स्थानान्तरित कर दिया गया। बड़े उद्योगों में भी अधिकांश काम असंगठित मज़दूरों से कराया जाने लगा। आज देश की कुल मज़दूर आबादी का लगभग 95 प्रतिशत असंगठित या अनौपचारिक क्षेत्र में काम कर रहा है। इन मज़दूरों के लिए किसी भी श्रम क़ानून का कोई मतलब नहीं रह गया है। बेहद कम मज़दूरी पर, बहुत बुरे हालात में वे 10.12 घण्टे तक खटते हैं। उन्हें कभी भी निकाल बाहर किया जा सकता है, अक्सर बेकारी झेलनी पड़ती है और किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा नहीं हासिल होती।

इनमें भी सबसे निचले पायदान पर स्त्री मज़दूर हैं। उन्हें सबसे कम दामों

पर, सबसे निचले दर्जे के, कमरतोड़, आँखफोड़ और ऊबाऊ कामों में लगाया जाता है। मोबाइल फोन के चार्जर, माइक्रोचिप्स, सिले-सिलाये कपड़ों से लेकर गाड़ियों के सी.एन.जी. किट और प्लास्टिक के सामान बनाने वाले उद्योगों तक में औरतें काम कर रही हैं। घण्टों तक खड़े-खड़े कपड़ों की कटिंग, पुर्जों की वेल्डिंग, बेहद छोटे-छोटे पुर्जों की छँटाई, या फिर पूरे-पूरे दिन झुके हुए बैठकर कागज़ की प्लेटों की गिनती, पंखे की जाली की सफ़ाई, पेण्टिंग, पैकिंग, धागा कटिंग, बटन टाँकने, राख में से धातु निकालने जैसे अनगिनत काम बेहद कम दरों पर स्त्री मज़दूरों से कराये जाते हैं। स्त्रियाँ पहले से ही सबसे सस्ती श्रम शक्ति रही हैं जिन्हें जब चाहे धकेलकर बेकारों की रिज़र्व आर्मी में फेंका जा सकता है। आज उनकी स्थिति और भी कमज़ोर हो गयी है।

कृषि और उससे जुड़े ग्रामीण उद्योगों में लगी स्त्रियों की दशा और भी खराब है। वहाँ भी सबसे अधिक मेहनत वाले काम बहुत कम मज़दूरी पर औरतें ही करती हैं। कृषि मज़दूरों की माँगों पर चर्चा करते समय हम और विस्तार से इसकी बात करेंगे। घरेलू काम करने वाली लाखों स्त्रियों के शोषण और उनकी माँगों की चर्चा हम घरेलू कामगारों से सम्बन्धित खण्ड में करेंगे। स्त्रियों की एक बहुत बड़ी आबादी सेवा क्षेत्र में निकृष्टतम क्रिस्म के कामों में लगा दी गयी है। छोटे व्यापारियों से लेकर बड़े स्टोर तक बादाम और मूँगफली छीलने, दालों की छँटाई-बिनाई करने, कागज़ और कपड़े के थैले बनाने आदि से लेकर झाड़ू-पोंछा, पैकिंग आदि अनगिनत काम बहुत कम दरों पर स्त्रियों से कराते हैं। प्राइवेट कम्पनियों के दफ़्तरों, कैण्टीन आदि में भी ठेके पर या पार्ट-टाइम काम करने वाली स्त्री मज़दूरों की अच्छी-खासी आबादी है।

थाईलैण्ड या ताइवान जैसे देशों में कारख़ानों में काम करने वाली 'फ़ैक्ट्री गर्ल' को जो भी थोड़ी-बहुत सुविधाएँ मिल जाती हैं, भारत में अधिकांश स्त्री मज़दूरों को वह भी हासिल नहीं होतीं। भारतीय समाज का पिछड़ापन भी पूँजीपतियों के काम आता है। पुरुष मज़दूर अपने घरों की स्त्रियों को कारख़ाने में जाकर काम करने देने के बजाय बेहतर समझते हैं कि वे पीसरेट पर घर पर ही लाकर कुछ काम कर लें। बहुत कम मज़दूरी मिलने पर भी उन्हें लगता है कि बैठे-बिठाये कुछ अतिरिक्त आमदनी हो गयी, यही बहुत है।

कार्यस्थलों पर भी स्त्रियाँ दोयम दर्जे की नागरिक बनी रहती हैं। कारख़ाने में यूनियन अगर है भी तो उसमें स्त्री मज़दूरों की कोई भागीदारी नहीं होती।

यूनियनें भी स्त्री मज़दूरों की विशेष माँगों की ओर ध्यान नहीं देतीं। मज़दूर माँगपत्रक-2011 की जिन माँगों के बारे में हमने इस शिक्षणमाला की पिछली किस्तों में चर्चा की है, वे सभी माँगें सारे मज़दूरों की माँगें हैं और इस नाते स्त्री मज़दूरों की भी माँगें बनती हैं। काम के उचित घण्टे, न्यूनतम मज़दूरी, ठेका मज़दूरी, पीस रेट और कैजुअल मज़दूरी से जुड़ी माँगें, काम करने के हालात और दुर्घटना के उचित मुआवज़े से जुड़ी माँगें तथा प्रवासी मज़दूरों के अधिकारों सम्बन्धी माँगें स्त्री मज़दूरों की भी माँगें हैं। आज अधिकांश परम्परागत यूनियनें इन माँगों को या तो उठाती नहीं या उठाती भी हैं तो उनमें स्त्री मज़दूरों की भागीदारी बहुत कम होती है। स्त्री मज़दूर इन माँगों के लिए संघर्ष में पुरुष मज़दूरों के साथ बढ़-चढ़कर हिस्सा लेंगी तो वे अपनी विशिष्ट माँगों के लिए लड़ाई में साथ देने के लिए भी पुरुष मज़दूरों से हक़ के साथ कह सकती हैं।

स्त्री मज़दूरों से सम्बन्धित विशेष माँगें

मज़दूर माँगपत्रक में स्त्री मज़दूरों के लिए पहली माँग यह की गयी है कि सब एक ही तरह के काम के लिए पुरुष और स्त्री मज़दूरों की मज़दूरी में गैर-बराबरी को ख़त्म किया जाये। इसके लिए 'समान मज़दूरी क़ानून, 1976' को सख़्ती से लागू किया जाये।

इसमें दूसरी माँग यह है कि सभी स्त्री मज़दूरों को, चाहे वह नियमित हों, ठेका, कैजुअल या पीसरेट पर काम करती हों, छह महीने का वेतन सहित मातृत्व अवकाश और नवजात बच्चे के पालन-पोषण के लिए तीन महीने का अवकाश दिया जाये। दिहाड़ी, पीसरेट और कैजुअल मज़दूरों को यह सुविधा देने का ख़र्च सरकार उठाये। इसके लिए उद्योगपतियों पर विशेष टैक्स लगाकर धन का इन्तज़ाम किया जाये। स्तनपान कराने वाली स्त्री मज़दूरों को लंच के अलावा तीन किस्तों में 30 मिनट का अतिरिक्त अवकाश मिलना चाहिए। उल्लेखनीय है कि सरकारी नौकरियों और बड़ी प्राइवेट कम्पनियों में अच्छे पदों पर काम करने वाली स्त्रियों को एक वर्ष के मातृत्व अवकाश के साथ और भी कई तरह की सुविधाएँ मिलती हैं। मध्य वर्ग की स्त्रियों की छोटी-सी आबादी को मिलने वाली सुविधाओं की क्रीमत भारी मेहनतकश आबादी अपनी हड्डियाँ निचुड़वाकर चुकाती है।

माँगपत्रक में अगली माँग यह है कि जहाँ भी पाँच या उससे अधिक स्त्री

मज़दूर काम करती हों वहाँ हर 5 बच्चों पर एक प्रशिक्षित दाई और तीन से पाँच वर्ष तक के बच्चों के लिए प्ले वे और नर्सरी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

गर्भावस्था और बच्चे की देखभाल के कारण बेरोज़गार रहने वाली असंगठित या अनौपचारिक स्त्री मज़दूरों को सरकार से बेकारी भत्ता मिलना चाहिए।

जहाँ भी स्त्री मज़दूर काम करती हैं, वहाँ उनके लिए अलग शौचालय, साफ-सफ़ाई व आराम करने की जगह का इन्तज़ाम होना चाहिए। स्त्री मज़दूरों के साथ छेड़छाड़ और किसी भी किसम की बदसलूकी पर तुरन्त कठोर कार्रवाई होनी चाहिए। किसी भी स्त्री मज़दूर को रात की पाली में काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए और रात में काम करने वाली स्त्रियों के लिए परिवहन और सुरक्षा की पूरी ज़िम्मेदारी नियोक्ता की होनी चाहिए।

माँगपत्रक में इस बात पर विशेष ज़ोर दिया गया है कि स्त्री मज़दूरों से सम्बन्धित सभी क़ानूनों और नियमों आदि पर अमल तथा इसकी निगरानी के लिए श्रम विभाग में ऊपर से नीचे तक विशेष प्रकोष्ठ होने चाहिए। साथ ही ऐसी निगरानी समितियाँ बनायी जानी चाहिए जिनमें सरकारी अधिकारी, स्त्री मज़दूरों की प्रतिनिधि, स्त्री संगठनों की प्रतिनिधि, मज़दूर संगठनों के प्रतिनिधि और जनवादी अधिकार आन्दोलन के कार्यकर्ता शामिल हों।

माँगपत्रक में अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस (8 मार्च) को राष्ट्रीय स्तर पर अवकाश घोषित करने की माँग की गयी है ताकि सभी मेहनतकश और कामकाजी स्त्रियाँ इसे मना सकें। अन्तरराष्ट्रीय स्त्री दिवस मेहनतकश स्त्रियों के संघर्ष से जन्मा है लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसे लगातार विकृत करने और इसकी क्रान्तिकारी विरासत पर परदा डालने की कोशिश की जा रही है। यह सबसे बढ़कर मज़दूर स्त्रियों के संघर्ष और आज़ादी का प्रतीक है।

स्त्री मज़दूरों की इन विशेष माँगों को ज़्यादातर यूनियन उठाती ही नहीं हैं। अगर कहीं इनमें से कुछ माँगें आगे की भी जाती हैं तो उन पर कभी ज़ोर नहीं दिया जाता। अधिकांश पुरुष मज़दूरों की यह मानसिकता है कि वे घरेलू काम का तो कोई मोल ही नहीं समझते, औरतों द्वारा किये जाने वाले उत्पादन के काम का जो भी मोल मिल जाये उसे अतिरिक्त आय मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। कार्यस्थल पर स्त्री मज़दूरों की समस्याओं की ओर उनका ध्यान ही नहीं

जाता। अक्सर कई पुरुष मज़दूर खुद ही स्त्रियों के उत्पीड़न और छेड़छाड़ में भागीदार बनते हैं या उसका मज़ा लेते हैं। यह मज़दूर आन्दोलन के भीतर सतत साँस्कृतिक काम की माँग करता है। पुरुष मज़दूरों को यह समझना होगा कि आधी आबादी अगर गुलाम बनी रहेगी तो वे भी आज़ाद नहीं हो सकेंगे। स्त्री मज़दूरों की जुझारू आबादी को साथ लिये बिना कोई भी मज़दूर आन्दोलन कभी बड़ी जीते हासिल नहीं कर सका है। उन्हें इस ग़लत सोच से भी मुक्ति पानी होगी कि स्त्री मज़दूरों के कारण उनकी मज़दूरी या रोज़गार के अवसरों में कमी आती है।

लेकिन स्त्री मज़दूर अलग-थलग रहकर अपनी माँगों के लिए संघर्ष नहीं कर सकतीं। आज कई एन.जी.ओ. मार्का संगठन भी स्त्री मज़दूरों के बीच सुधार के काम करते हुए इस तरह की कुछ माँगें उठाते रहते हैं। उनके तरीक़ों से स्त्री मज़दूरों को कुछ भी हासिल नहीं होगा। सभी मज़दूरों के साझा सवालों पर साझा संघर्ष में सक्रिय भागीदारी करते हुए ही स्त्री मज़दूर अपनी विशिष्ट माँगों के लिए संघर्ष में पुरुष मज़दूरों को अपने साथ खड़ा कर सकती हैं।

यहाँ एक और बात का भी ज़िक्र ज़रूरी है। बहुत से स्त्री संगठन, जिनमें वाम संगठनों से जुड़े स्त्री संगठन भी शामिल हैं, स्त्री मुक्ति की बात करते हुए जेण्डर आधारित शोषण-उत्पीड़न की बात तो करते हैं लेकिन स्त्री मज़दूरों की विशाल आबादी की विशिष्ट माँगें हाशिये पर रह जाती हैं। उनकी माँगें प्रायः मध्यवर्गीय स्त्रियों की माँगों तक सीमित रहती हैं और उनका नेतृत्व भी मध्यवर्गीय-बौद्धिक स्त्रियों के हाथों में रहता है।

मज़दूर संगठन भी जब अपना कोई विस्तृत माँगपत्र तैयार करते हैं तो वहाँ भी स्त्री मज़दूरों की विशिष्ट माँगें हाशिये पर चली जाती हैं। इस समस्या का मुक़ाबला स्त्री मज़दूरों को करना ही होगा। इसका एकमात्र समाधान यह है कि वे ट्रेड यूनियन आन्दोलन में भागीदारी बढ़ायें, और साथ ही साथ स्त्री मज़दूरों के स्वतन्त्र संगठन भी खड़े हों। पुरुषों द्वारा उत्पीड़न और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरुद्ध स्त्रियों के साझा संघर्ष के साथ-साथ स्त्री मज़दूरों को अपने विशिष्ट हितों के लिए भी संगठित होकर लड़ना होगा।

भारत के मज़दूर वर्ग की ओर से शासक वर्गों के समक्ष पेश करने के लिए शुरू किये मज़दूर माँगपत्र आन्दोलन के पीछे की सोच यही है कि मज़दूर वर्ग इसके इर्द-गिर्द अपने जनवादी अधिकारों को लेकर लड़ने के लिए संगठित

हो। अलग-अलग पूँजीपतियों से एक-एक कारखाने में लड़ने के बजाय पूरा मज़दूर वर्ग राज्य के सामने अपनी साझा माँगों को रखे। यह देश भर के मज़दूरों को उनकी साझा माँगों पर एकजुट करने की एक लम्बी चलने वाली मुहिम है। यह आन्दोलन अगर असंगठित और अनौपचारिक क्षेत्र में दिहाड़ी और ठेके पर काम करने वाली, घरों पर पीसरेट पर काम करने वाली स्त्री मज़दूरों की भारी आबादी की माँगों को पुरजोर ढंग से नहीं उठाता तो यह अपने लक्ष्य से दूर ही रह जायेगा। इसीलिए इसमें स्त्री मज़दूरों से सम्बन्धित विशेष माँगों को एक अलग शीर्षक के तहत सूचीबद्ध किया गया है।

मज़दूर बिगुल, अगस्त-सितम्बर 2011

अक्टूबर क्रान्ति के दिनों की वीरांगनाएँ

अलेक्सान्द्रा कोल्लोन्ताई

वे कौन नारियाँ थीं, जिन्होंने महान अक्टूबर क्रान्ति में हिस्सा लिया था? क्या वे अलग-अलग व्यक्ति थीं? नहीं, उनकी संख्या बहुत बड़ी थी; दसियों, सैकड़ों- हज़ारों अनाम नायिकाएँ जिन्होंने लाल झण्डे और सोवियतों के नोरे के पीछे मज़दूरों और किसानों के कंधे से कंधा मिलाकर मार्च करते हुए धर्मकेन्द्रित ज़ारशाही के ध्वंसावशेषों के ऊपर से गुज़रकर एक नूतन भविष्य में प्रवेश किया...।

यदि कोई पीछे मुड़कर अतीत पर नज़र डाले तो वह उन्हें देख सकता है – इन अनाम नायिकाओं की आबादी को, जिन्हें अक्टूबर ने भूख से मरते शहरों और लड़ाई में लूटे गये गरीब गाँवों में पाया था... सिर पर रुमाल बाँधे (हालाँकि इनमें लाल रुमाल अभी बहुत कम ही थे), घिसा हुआ घाघरा और रूई भरा जाड़े का जैकेट पहने... जवान और वृद्ध, मज़दूरों और सिपाहियों की पत्नियाँ, किसान औरतें और शहर के गरीबों की गृहणियाँ। इनमें दफ्तरों में काम करने वाली या अन्य पेशों में लगी औरतें, शिक्षित और सुसंस्कृत औरतें कम, खासतौर पर इन दिनों में, बहुत ही कम थीं। लेकिन लाल झण्डे को अक्टूबर की विजय तक पहुँचाने वालों में बुद्धिजीवी वर्ग से आई नारियाँ भी थीं – अध्यापिकाएँ, दफ्तरों में काम करने वाली स्त्रियाँ, हाई स्कूलों और विश्वविद्यालयों की तरुण छात्राएँ, चिकित्सिकाएँ। वे खुशी-खुशी, निःस्वार्थ भाव से और निश्चित उद्देश्य के साथ चलती गयीं। जहाँ भी उन्हें भेजा गया, वे गयीं। मोर्चे पर? उन्होंने सिपाही की टोपी लगायी और लाल सेना की योद्धा बन गयीं। अगर उन्होंने बाँहों पर लाल पट्टियाँ लगा लीं तो वे गात्विना (लेनिनग्राद के पास का एक उपनगर) में केरेन्सकी के विरुद्ध लाल सेना की मदद के लिए प्राथमिक चिकित्सा स्टेशनों की ओर लपक रही होती थीं। वे सेना की संचार व्यवस्था में काम करती थीं। वे बेहद ज़िन्दादिली के साथ काम करती थीं। इस विश्वास से भरी हुई कि कोई भारी महत्त्व की चीज़ घटित हो रही है और हम सब क्रान्ति की एक ही श्रेणी के छोटे-छोटे पुर्जे हैं।

गाँवों में किसान औरतों ने, जिनके पति मोर्चे पर भेज दिये गये थे, भूस्वामियों से ज़मीन छीन ली और अभिजातों को उनके घोंसलों से बाह्यद खदेड़ दिया जिनमें वे सदियों से पल रहे थे।

जब भी अक्टूबर की घटनाओं का स्मरण किया जाता है तो अलग-अलग चेहरे नहीं, बल्कि जनसमूह दिखायी पड़ते हैं। असंख्य जनसमूह, मानवता की लहरों की तरह। पर जहाँ भी नज़र डाली जाये औरतें दिखायी देती हैं – बैठकों में, सभाओं में, प्रदर्शनों में...। अभी वे निश्चित नहीं हैं कि वे ठीक-ठीक क्या चाहती हैं, किसके लिए वे प्रयासरत हैं। लेकिन वे एक चीज़ जानती हैं: वे अब युद्ध को और बर्दाश्त नहीं करेंगी। और न ही वे भूस्वामियों और अमीरों को चाहती हैं... 1917 के वर्ष में मानवता का महासमुद्र उफनता और हिलोरें लेता है, और उस महासमुद्र का एक भारी हिस्सा औरतों से बना हुआ है...

एक दिन इतिहासकार क्रान्ति की उन अनाम नायिकाओं के कारनामों के बारे में लिखेगा जो मोर्चे पर मारी गयीं, जिन्हें श्वेत गार्डों ने गोली से उड़ा दिया, जिन्होंने क्रान्ति के बाद आने वाले पहले वर्षों के अनगिनत अभावों को झेला लेकिन सोवियत सत्ता और कम्युनिज़्म के लाल निशान को ऊँचा उठाये रखा। इन्हीं अनाम नायिकाओं के प्रति, जो मेहनतकश लोगों के लिए एक नया जीवन हासिल करने के लिए अक्टूबर क्रान्ति के दौरान शहीद हुईं, युवा गणतन्त्र सम्मान में अपना सिर झुकाता है, जबकि इसके जिन्दादिल और उत्साही युवा लोग समाजवाद के आधारों के निर्माण में लग रहे हैं।

परन्तु स्कार्फों और घिसी टोपियों से ढँके औरतों के सिरों के इस समुद्र में से अनिवार्यतः उन लोगों की छवियाँ उभरती हैं जिन पर इतिहासकार विशेष ध्यान देगा जब आज से कई साल बाद वह महान अक्टूबर क्रान्ति और इसके नेता लेनिन के बारे में लिखेगा।

सबसे पहले जो छवि उभरती है, वह है लेनिन की वफ़ादार संगिनी नादेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना क्रूप्सकाया की – अपनी सादी, स्लेटी पोशाक पहने हुए, हमेशा पृष्ठभूमि में रहने का प्रयास करते हुए। वे बिना किसी का ध्यान आकर्षित हुए, चुपचाप, किसी बैठक में प्रवेश कर जातीं और किसी खम्भे के पास खड़ी हो जातीं। पर वे एक-एक चीज़ देखती और सुनती थीं, जो कुछ भी हो रहा होता, उसका अध्ययन करते हुए, ताकि फिर वे व्लादीमिर इलिच को पूरा विवरण दे सकें, अपनी सटीक टिप्पणियाँ जोड़ सकें और कोई व्यक्तिपूर्ण,

उपयुक्त और उपयोगी विचार सुझा सकें। उन दिनों नादेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना उन ढेरों तूफ़ानी बैठकों में नहीं बोलती थीं जिनमें लोग इस महान प्रश्न पर बहस करते थे कि सोवियत सत्ता जीतेगी या नहीं? परन्तु वे अनथक रूप से व्लादीमिर इलीच के दाहिने हाथ की तरह काम करती थीं और कभी-कभी पार्टी बैठकों में कोई संक्षिप्त पर प्रभावकारी वक्तव्य देती थीं। भयंकर विपत्ति और ख़तरे के क्षणों में भी, जब अनेक मज़बूत कॉमरेड हिम्मत हार बैठे और संशय के शिकार हो गये, नादेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना हमेशा वैसी ही बनी रहीं – लक्ष्य की सत्यता और इसकी निश्चित विजय के प्रति पूर्ण आश्वस्त। वे अडिग आस्था का स्रोत थीं, ओर जो कोई भी अक्टूबर क्रान्ति के महान नेता की इस सहचरी के सम्पर्क में आता था, उस पर विनम्रता के आवरण में ढँकी व्यक्तित्व की यह दृढ़ता हमेशा ही एक स्फूर्तिदायक प्रभाव छोड़ती थी।

एक दूसरी छवि उभरती है – और वह है लेनिन की एक और वफ़ादार साथी, भूमिगत कार्य के कठिन वर्षों की विश्वस्त दोस्त, पार्टी की केन्द्रीय समिति की सेक्रेटरी – येलेना झीलियेव्ना स्तासोवा की। स्पष्ट, बुद्धिमत्तापूर्ण और अत्यन्त सूक्ष्मता- पूर्वक काम करने की असाधारण क्षमता, और किसी काम के लिए सटीक आदमी ढूँढ़ निकालने की विशिष्ट योग्यता। उनकी लम्बी, मूर्तिवत आकृति पहले त्राविचेस्की प्रासाद (1917 में मज़दूरों और सिपाहियों की पेलोग्राद सोवियत की बैठक जहाँ हुई थी) की सोवियत में, फिर क्शेसिन्स्काया (फ़रवरी क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी की पीटर्सबर्ग कमेटी की बैठक बैले नर्तकी क्शेसिन्स्काया के घर पर हुई थी) के घर में और अन्ततः स्मोल्नी में देखी जा सकती थी। अपने हाथों में वे एक नोटबुक लिये होती थीं और उनके चारों तरफ़ मोर्चे से आये कॉमरेडों, मज़दूरों, लालगाडों, महिला श्रमिकों और पार्टी तथा सोवियतों का समूह किसी तेज़, स्पष्ट उत्तर या निर्देश की प्रतीक्षा में जमा रहता था। स्तासोवा अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों की ज़िम्मेदारी सँभालती थीं, किन्तु यदि उन तूफ़ानी दिनों में कोई साथी किसी विपत्ति या परेशानी में होता था तो वे तत्काल ध्यान देती थीं। वे तत्काल ही उसका कोई संक्षिप्त, ऊपर से रूखा-सा लगने वाला जवाब देती थीं और खुद भी जितना बन पड़े करती थीं। वे कामों के बोझ से दबी रहती थीं और हमेशा अपनी जगह पर चुस्त रहती। हमेशा अपनी जगह पर... कभी भी अगली क़तार में और प्रतिष्ठा के घेरे में आने का प्रयास न करते हुए। वे कभी भी लोगों के ध्यान के केन्द्र में होना पसन्द नहीं करती थीं। उनकी सारी चिन्ता खुद के लिए नहीं, बल्कि उद्देश्य

के लिए थी। कम्युनिज़्म के महान और लम्बे समय से संजोये हुए उद्देश्य के लिए, जिसके लिए येलेना स्तासोवा ने निर्वासन और ज़ारशाही जेलों की कैद भोगी जिसने उनके स्वास्थ्य को बुरी तरह तोड़ डाला... उद्देश्य के नाम पर वे वज्र की तरह थीं, इस्पात की तरह कठोर, किन्तु अपने साथियों के प्रति वे ऐसी संवेदनशीलता और सहानुभूति प्रदर्शित करती थीं, जो केवल एक स्नेही और उदारहृदय नारी में ही हो सकती है।

क्लॉदिया निकोलायेवा बहुत साधारण घर से आयी एक मज़दूर औरत थीं। वे 1908 में ही, प्रतिक्रिया के वर्षों में बोल्शेविकों के साथ हो गयी थीं, और निर्वासन और कैद झेल चुकी थीं। 1917 में वे लेनिनग्राद लौट आयीं और मेहनतकश औरतों की पहली पत्रिका 'कम्युनिस्तका' का हृदय बन गयीं। वे अभी भी युवा थीं और आवेग तथा अर्धैर्य से भरी हुई थीं। किन्तु उन्होंने लाल झण्डे को मज़बूती से थामा और निडरतापूर्वक घोषणा की कि मज़दूर औरतों, सिपाहियों की पत्नियों और किसान औरतों को पार्टी में लाना चाहिए। औरतो! काम पर चलो! सोवियतों और कम्युनिज़्म की रक्षा के लिए चलो!

जब वे बैठकों में भाषण देती थीं तो कुछ अधीर और ख़ुद के प्रति पूर्ण आश्वस्त नहीं होती थीं, किन्तु फिर भी दूसरों को अपना अनुसरण करने के लिए आकर्षित करती थीं। वे उन लोगों में से एक थीं, जिन्होंने क्रान्ति में औरतों की व्यापक सामूहिक हिस्सेदारी का रास्ता तैयार करने में आने वाली सारी कठिनाइयाँ अपने कंधों पर झेली थीं। वे उनमें से एक थीं जो एक साथ दो मोर्चों पर लड़े – सोवियतों और कम्युनिज़्म के लिए और उसी समय स्त्रियों की मुक्ति के लिए भी। क्लॉदिया निकोलायेवा और कोंकोर्दिया समोइलोवा, जो क्रान्ति के कामों के दौरान हैजे से मर गयीं, के नाम मेहनतकश स्त्रियों के आन्दोलन के पहले और सर्वाधिक कठिन क्रदमों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। कोंकोर्दिया समोइलोवा अद्वितीय निःस्वार्थता वाली पार्टी कार्यकर्ता थीं। वे एक बढ़िया, व्यावहारिक वक्ता थीं और मज़दूर औरतों का दिल जीतना चाहती थीं। जिन्होंने उनके साथ काम किया है, वे लम्बे समय तक कोंकोर्दिया समोइलोवा को याद रखेंगे। वे बिल्कुल सादी पोशाक पहनती थीं और सरल व्यवहार करती थीं, किन्तु निर्णयों का कार्यान्वयन पूरी निष्ठा के साथ करती थीं – ख़ुद के साथ और दूसरों के साथ भी पूरी सख्ती बरतते हुए।

इनेस्सा आरमाँ की सौम्य और मोहक छवि विशेष रूप से ध्यान खींचती है,

जिन पर अक्टूबर क्रान्ति की तैयारी में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पार्टी कार्य सौंपा गया था और जिन्होंने उसके बाद औरतों के बीच चलाये गये काम में अनेक रचनात्मक विचारों का योगदान किया। अपने व्यवहार की समस्त नारी सुलभ कमनीयता और सौम्यता के बावजूद इनेस्सा आरमाँ अपने विश्वासों पर अटल थीं और जिसे सही समझती थीं उसकी रक्षा विकट विरोधियों के सामने भी कर सकने में समर्थ थीं। क्रान्ति के बाद इनेस्सा आरमाँ ने खुद को औरतों का व्यापक आन्दोलन संगठित करने में समर्पित कर दिया और औरतों की प्रतिनिधि सभा उन्हीं की रचना है।

मास्को में अक्टूबर क्रान्ति के कठिन और निर्णायक दिनों में वार्वरा निकोलायेवा ने भारी काम किया था। बैरिकेडों की लड़ाई में उसने पार्टी हेडक्वार्टर के नेता के योग्य दृढ़संकल्प का परिचय दिया। बहुत सारे साथियों ने बताया कि उस समय उनके दृढ़ संकल्प और अडिग साहस ने उन्हें हिम्मत बँधायी जो विचलित हो रहे थे और हिम्मत हार बैठे लोगों को प्रेरित किया – ‘आगे बढ़ो!’ विजय तक।

महान अक्टूबर क्रान्ति में भाग लेने वाली औरतों को याद करते हुए मानो जादू से स्मृति से एक के बाद एक नाम और चेहरे उभरते आते हैं। क्या आज हम वेरा स्लुत्स्काया की स्मृति के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने में चूक सकते हैं जोकि निःस्वार्थ भाव से क्रान्ति की तैयारी में काम करती रहीं और पेत्रोग्राद के निकट लाल मोर्चे पर कज़ाकों की गोली से मारी गयीं।

क्या हम येवोनिया बॉश को, उसके आग्नेय मिजाज को भूल सकते हैं, जो हर समय लड़ाई के लिए उत्सुक रहती थीं। वे भी क्रान्ति में अपने नियत स्थान पर लड़ती हुई मरीं।

क्या हम लेनिन के जीवन और कार्यों से नज़दीकी से जुड़े दो नामों – उनकी दो बहनों और विश्वस्त साथियों – आन्ना इलिनिन्ना येलिज़ारोवा और मारिया इलिनिन्ना उल्यानोवा का उल्लेख यहाँ छोड़ सकते हैं?

और मास्को की रेलवे वर्कशापों की कॉमरेड वार्या? हमेशा जीवन्त, हमेशा जल्दी में। और लेनिनग्राद की कपड़ा मज़दूर फ़योदोरोवा, उसके खुशनुमा चेहरे और बैरिकेडों पर लड़ने के समय उसकी निर्भयता को क्या हम भूल सकते हैं?

उन सबके नाम गिनाना असम्भव है। और न जाने कितनी तो अनाम हैं। अक्टूबर क्रान्ति की नायिकाएँ एक पूरी सेना के बराबर थीं और नाम भले ही भूल जायें उस क्रान्ति की जीत में और आज सोवियत संघ में और औरतों को मिली उपलब्धियों और अधिकारों के रूप में उनकी निःस्वार्थता जीवित रहेगी।

यह एक स्पष्ट और निर्विवाद तथ्य है कि औरतों की हिस्सेदारी के बिना अक्टूबर क्रान्ति में लाल झण्डे की विजय नहीं हो सकती थी। अक्टूबर क्रान्ति में लाल झण्डे के नीचे मार्च करने वाली औरतें ज़िन्दाबाद! औरतों को मुक्ति दिलाने वाली अक्टूबर क्रान्ति ज़िन्दाबाद!

बिगुल, नवम्बर 2008

प्रेम, परम्परा और विद्रोह

कात्यायनी

बाबू बजरंगी आज एक राष्ट्रीय परिघटना बन चुका है। अहमदाबाद के इस शख्स का दावा है कि अबतक वह सैकड़ों हिन्दू कन्याओं को “मुक्त” करा चुका है। “मुक्ति” का यह काम बाबू बजरंगी मुस्लिम युवकों के साथ हिन्दू युवतियों के प्रेमविवाह को बलपूर्वक तुड़वाकर किया करता है। ज़ाहिर है कि अन्तर्धार्मिक विवाहों, या यँ कहें कि दो व्यस्कों द्वारा परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध कायम करने के स्वतंत्र निर्णय को संवैधानिक अधिकार के रूप में मान्यता प्राप्त होने के बावजूद बाबू बजरंगी का “मुक्ति अभियान” यदि अबतक निर्बाध चलता रहा है तो इसके पीछे गुजरात की भाजपा सरकार द्वारा प्राप्त परोक्ष सत्ता-संरक्षण का भी एक महत्वपूर्ण हाथ है।

लेकिन बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। नागरिकों का एक बड़ा हिस्सा, जो साम्प्रदायिक कट्टरपंथी नहीं है, वह भी अपने रूढ़िवादी मानस के कारण, अन्तर्जातीय-अन्तर्धार्मिक प्रेम विवाहों का ही विरोधी है और बाबू बजरंगी जैसों की हरकतों के निर्बाध जारी रहने में समाज के इस हिस्से की भी एक परोक्ष भूमिका होती है। समाज के पढ़े-लिखे, प्रबुद्ध माने जाने वाले लोगों का बहुलांश आज भी ऐसा ही है जो युवाओं के बीच प्रेम सम्बन्ध को ही ग़लत मानता है और उसे अनाचार अनैतिकता की कोटि में रखकर देखता है। बहुत कम ही ऐसे अभिभावक हैं जो अपने बेटों या बेटियों के प्रेम सम्बन्ध को सहर्ष स्वीकार करते हों और अपनी ज़िन्दगी के बारे में निर्णय लेने के उनके अधिकार को दिल से मान्यता देते हों। यदि वे स्वीकार करते भी हैं तो ज्यादातर मामलों में विवशता और अनिच्छा के साथ ही। और जब बात किसी अन्य धर्म के या अपने से निम्न मानी जाने वाली किसी जाति (विशेषकर दलित) के युवक या युवती के साथ, अपने बेटे या बेटे के प्रेम की हो तो अधिकांश उदारमना माने जाने वाले नागरिक भी जो रुख अपनाते हैं, उससे यह साफ़ हो जाता है कि हमारे देश का उदार और सेक्युलर दिलो-दिमाग़ भी वास्तव में कितना उदार और सेक्युलर है! यही कारण है कि जब धर्म या जाति से बाहर प्रेम करने के

कारण किसी बेटी को अपने ही घर में काटकर या जलाकर मार दिया जाता है या किसी दलित या मुस्लिम युवक को सरेआम फ़ाँसी पर लटकाकर मार दिया जाता है या उसकी बोटी-बोटी काट दी जाती है या उसके परिवार को गाँव-शहर छोड़ने तक पर मज़बूर कर दिया जाता है तो ऐसे मसलों को लेकर केवल महानगरों का सेक्युलर और प्रगतिशील बुद्धिजीवी समुदाय ही (गौरतलब है कि ऐसे बुद्धिजीवी महानगरीय बुद्धिजीवियों के बीच भी अल्पसंख्यक ही हैं) कुछ चीख-पुकार मचाता है, शासन-प्रशासन को ज्ञापन सौंपकर दोषियों के विरुद्ध कार्रवाई की माँग की जाती है, कुछ प्रतीकात्मक धरने-प्रदर्शन होते हैं, कुछ जाँच टीमों घटनास्थल का दौरा करती हैं, अखबारों में लेख-टिप्पणियाँ छपती हैं (और लगे हाथों फ़्रीलांसर नामधारियों की कुछ कमाई भी हो जाती है), टी.वी. चैनलों को 'मुकाबला', 'टक्कर' या ऐसे ही नाम वाले किसी कार्यक्रम के लिए मसाला मिल जाता है और कुछ प्रचार-पिपासु, धनपिपासु सेक्युलर बुद्धिजीवियों को भी अपनी गोट लाल करने का मौका मिल जाता है। जल्दी ही मामला ठण्डा पड़ जाता है और फिर ऐसे ही किसी नये मामले का इन्तज़ार होता है जो लम्बा कत्तई नहीं होता।

मुद्दा केवल किसी एक बाबू बजरंगी का नहीं है। देश के बहुतेरे छोटे-बड़े शहरों और ग्रामीण अंचलों में ऐसे गिरोह मौजूद हैं जो धर्म और संस्कृति के नाम पर ऐसे कारनामों को अंजाम दिया करते हैं और बात केवल धार्मिक कट्टरपंथी फ़ासीवादी राजनीति से प्रेरित गिरोहों की ही नहीं है। ऐसे पिताओं और परिवारों के बारे में भी आये दिन खबरें छपती रहती हैं जो जाति-धर्म के बाहर प्रेम या विवाह करने के चलते अपनी ही सन्तानों की जान के दुश्मन बन जाते हैं। देश के कुछ हिस्सों में, विशेषकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा में जाति-बिरादरी की पंचायतों की मध्ययुगीन सत्ता इतनी मज़बूत है कि जाति-धर्म के बाहर शादी करना तो दूर, सगोत्रीय विवाह की वर्जना तक को तोड़ने के चलते पंचायतों द्वारा सरेआम मौत की सज़ा दे दी जाती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मुजफ़्फ़रनगर, सहारनपुर, मेरठ आदि जिलों से लेकर हरियाणा तक से हर वर्ष ऐसी कई घटनाओं की खबरें आती रहती हैं और उससे कई गुना घटनाएँ ऐसी होती हैं जो खबर बन पाने से पहले ही दबा दी जाती हैं। इन सभी मामलों में पुलिस और प्रशासन का रवैया भी पूरी तरह पंचायतों के साथ हुआ करता है। अपने जातिगत और धार्मिक पूर्वाग्रहों के चलते पुलिस और प्रशासन के कर्मचारियों की सहानुभूति भी पंचायतों के रुढ़िवादी बड़े-

बुजुर्गों के साथ ही हुआ करती है। यहाँ तक कि न्यायपालिका भी इन पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं होती। आये दिन दिल्ली-मुम्बई से लेकर देश के छोटे-छोटे शहरों तक में पार्कों-सिनेमाघरों-कैम्पसों आदि सार्वजनिक स्थानों पर घुसकर बजरंगियों-शिवसैनिकों और पुलिस द्वारा प्रेमी जोड़ों की पिटाई को भी इसी आम सामाजिक प्रवृत्ति से जोड़कर देखा जाना चाहिए क्योंकि आम लोग ऐसी घटनाओं का मुखर प्रतिवाद नहीं करते।

कहा जा सकता है कि प्रेम करने की आज़ादी सहित किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत आज़ादी, निजता और निर्णय की स्वतंत्रता के विरुद्ध एक बर्बर किस्म की निरंकुशता पूरी भारतीय सामाजिक संरचना के ताने-बाने में सर्वव्याप्त प्रतीत होती है। सोचने की बात यह है कि उत्पादन की आधुनिक प्रक्रिया अपनाने, आधुनिकतम, उपभोक्ता सामग्रियों का इस्तेमाल करने और भौतिक जीवन में आधुनिक तौर-तरीके अपनाने के बावजूद हमारे समाज में निजता, व्यक्तिगत आज़ादी, तर्कणा आदि आधुनिक जीवन-मूल्यों का सामाजिक-सांस्कृतिक वर्चस्व आज तक क्यों नहीं स्थापित हो सका? भारत में सतत् विकासमान पूँजीवाद मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं के साथ इतना कुशल-सफल तालमेल क्यों और किस प्रकार बनाये हुए है? इस बात को सुसंगत ढंग से केवल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है।

यह सही है कि आज का पश्चिमी समाज समृद्धि के शिखर पर आसीन होने के बावजूद, आर्थिक स्तर पर असाध्य ढाँचागत संकट, राजनीतिक स्तर पर पूँजीवादी जनवाद के क्षरण एवं विघटन तथा सांस्कृतिक-सामाजिक स्तर पर विघटन, अलगाव, नैतिक अधःपतन और अराजकता का शिकार है। पारिवारिक ढाँचे का ताना-बाना वहाँ बिखर रहा है। अपराधों, मानसिक रोगों और आत्मिक वंचना का ग्राफ़ लगातार ऊपर की ओर बढ़ रहा है। पूरी दुनिया को लूटकर समृद्धि का द्वीप बसाने वाले पश्चिमी महाप्रभुओं से इतिहास उनकी करनी का वाजिब हिसाब वसूल रहा है। लेकिन इन सबके बावजूद इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि पश्चिम में नागरिकों के आपसी रिश्तों और परिवार सहित सभी सामाजिक संस्थाओं में जनवाद के मूल्य इस तरह रचे-बसे हुए हैं कि कैथोलिक, प्रोटेस्टैण्ट, यहूदी, मुसलमान, श्वेत, अश्वेत-किसी भी धर्म या नस्ल के व्यक्ति यदि आपस में प्यार या शादी करें तो सामाजिक बाँकॉट या पंचायती दण्ड जैसी किसी बात की तो कल्पना तक नहीं की जा सकती। हो सकता है कि परिवार की पुरानी पीढ़ी कहीं-कहीं इस बात का विरोध करे,

पर यह विरोध प्रायः उसूली मतभेद के दायरे तक ही सीमित रहता है। जहाँ तक समाज का सम्बन्ध है, लोग इसे किन्हीं दो व्यक्तियों का निजी मामला ही मानते हैं। यह सही है कि ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में अश्वेतों और अन्य अप्रवासियों का पार्थक्य, दोयम दर्जे की आर्थिक स्थिति और उनके प्रति विद्वेष भाव लगातार मौजूद रहता है और पिछले कुछ दशकों के दौरान कुछ नवनात्सीवादी गिरोह इन्हें हिंसा और गुण्डागर्दी का भी शिकार बनाते रहे हैं। धनी-गरीब के अन्तर और वर्ग-अन्तरविरोध भी वहाँ तीखे रूप में मौजूद हैं। लेकिन सामाजिक ताने-बाने में वहाँ निजता और व्यक्तिगत आज़ादी के जनवादी मूल्य इस तरह रचे-बसे हैं कि धर्म या नस्ल के बाहर प्रेम या विवाह को मन ही मन गलत मानने वाले लोग भी इसका संगठित और मुखर विरोध नहीं करते। पश्चिम में 'मैचमेकर्स' द्वारा परिवारों के बीच बातचीत करके शादियाँ कराने की परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ही दम तोड़ने लगी थी। प्रेम और विवाह के मामलों में वहाँ के समाज में मुख्य और स्थापित प्रवृत्ति युवाओं को पूरी आज़ादी देने की है। इसका मुख्य कारण है कि मानववाद, इहलौकिकता, वैयक्तिकता और जनवाद के मूल्यों को सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों और क्रान्तियों के कई शताब्दियों लम्बे सिलसिले ने यूरोपीय समाज के पोर-पोर में इस कदर रचा-बसा दिया था कि साम्राज्यवाद की एक पूरी सदी बीत जाने के बावजूद, पश्चिमी पूँजीवाद राज्यसत्ताओं के बढ़ते निरंकुश चरित्र और पूँजीवादी जनवाद के पतन-विघटन की प्रक्रिया के समापन बिन्दु के निकट पहुँचने के बावजूद, तमाम सामाजिक विषमताओं, आर्थिक लूट, सामाजिक-सांस्कृतिक-नैतिक अधःपतन तथा पण्यपूजा (कमोडिटी फ्रेटिशिज्म) और अलगाव (एलियनेशन) के घटाटोप के बावजूद वहाँ नागरिकों के आपसी रिश्तों और मूल्यों-मान्यताओं में व्यक्तियों की निजता और व्यक्तिगत आज़ादी को पूरा सम्मान देने की प्रवृत्ति आज भी अनुत्क्रमणीय रूप से स्थापित है। पंचायती न्याय की मध्ययुगीन कबीलाई बर्बरता के बारे में, अन्तर्धार्मिक अन्तर्जातीय विवाह करने पर सामाजिक बहिष्कार, अपना गाँव-शहर छोड़ने के लिए विवश होने या हत्या तक की कीमत चुकाने के बारे में या प्रेमी जोड़ों की पार्कों में सामूहिक पिटाई जैसी घटना के बारे में वहाँ का एक आम नागरिक सोच तक नहीं सकता।

यूरोपीय पूँजीवादी समाज पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति (रिनेसांस-एनलाइटनेमेण्ट-रिवोल्यूशन) की शताब्दियों लम्बी प्रक्रिया से गुजरकर

अस्तित्व में आया था। इस प्रक्रिया में अधिकांश मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं का वर्चस्व वहाँ लगभग समाप्त हो गया था। यद्यपि सत्तासीन होने के बाद यूरोपीय पूँजीपति वर्ग ने चर्च से “पवित्र गठबन्धन” करके तर्कणा और जनवाद के झण्डे को धूल में फेंक दिया और पुनर्जागरण-प्रबोधन के समस्त मानववादी-जनवादी आदर्शों को तिलांजलि दे दी, लेकिन ये मूल्य सामाजिक-सांस्कृतिक अधिरचना के ताने-बाने में इस कदर रच-बस चुके थे कि सामाजिक जनमानस में इनकी अन्तर्व्याप्ति को समूल नष्ट करके मध्ययुग की ओर वापस नहीं लौटा जा सकता था। पूँजीवाद के ऐतिहासिक विश्वासघात और असली चरित्र को उजागर करने में उन्नीसवीं शताब्दी के आलोचनात्मक यथार्थवादी कला-साहित्य ने भी एक विशेष भूमिका निभायी। यह तुलनात्मक अध्ययन अलग से पर्याप्त गहराई और विस्तार की माँग करता है, जो यहाँ सम्भव नहीं है।

भारतीय इतिहास की गति और दिशा इस सन्दर्भ में यूरोप से सर्वथा भिन्न रही है। यहाँ मध्ययुगीन सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संरचना का ताना-बाना जब अन्दर से टूटने-बिखरने की दिशा में अग्रसर था और इसके भीतर से प्रगतिशील पूँजीवादी तत्वों के उद्भूत और विकास की प्रक्रिया गति पकड़ रही थी, उसी समय देश के उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी। उपनिवेशीकरण की व्यवस्थित प्रक्रिया ने एक शताब्दी के भीतर भारतीय समाज की स्वाभाविक आन्तरिक गति की हत्या कर दी और यहाँ की संक्रमणशील देशज सामाजिक-आर्थिक संरचना को नष्ट करके ऊपर से एक औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना आरोपित कर दी। निश्चय ही भारतीय मध्ययुगीन सामाजिक-आर्थिक संरचना की अपनी विशिष्टताएँ थीं, यह यूरोपीय सामन्तवाद से काफ़ी भिन्न थी और यहाँ पूँजीवादी विकास बहुतेरी बाधाएँ-समस्याएँ भी थीं। लेकिन ये बाधाएँ पूँजीवादी विकास को रोक नहीं सकती थीं। प्राक्-ब्रिटिश भारत में पूँजीवादी विकास के उपादान मौजूद थे। यदि भारत उपनिवेश नहीं बनता तो उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ ही पूँजी भारतीय समाज के पोर-पोर में घुस जाती और फिर वह समय भी आता जब एक सर्वसमावेशी सामाजिक झंझावात के साथ यहाँ भी इतिहास को तेज़ गति देने वाला पूँजीवाद अपनी भौतिक-आत्मिक समग्रता के साथ अस्तित्व में आता। मध्ययुगीन समाज के परमाणु नाभिक पर सतत् प्रहार उसे विखण्डित कर देते और ऊर्जा का अजय स्रोत फूट पड़ता। मुख्यतः किसानों-दस्तकारों की शक्ति से संगठित मध्यकालीन

भारत के भक्ति आन्दोलन और किसान संघर्षों ने इस दिशा में एक पूर्वसंकेत दे भी दिया था। तमाम पारिस्थितिक भिन्नताओं के बावजूद भारतीय भक्ति आन्दोलन और यूरोपीय धर्म-सुधार आन्दोलन में तात्त्विक समानता के बहुतेरे अवयव मौजूद दीखते हैं। भारतीय इतिहास हूबहू पुनर्जागरण-प्रबोधन-बुर्जुआ क्रान्ति के यूरोपीय मार्ग का अनुकरण करता हुआ आगे बढ़ता, यह मानना मूर्खता होगी। रूस और जापान जैसे देशों ने भी पूँजीवादी विकास का अपना सापेक्षतः भिन्न मार्ग चुना था और यूरोप में भी जर्मनी और पूर्वी यूरोपीय देशों का रास्ता ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि देशों से काफ़ी भिन्नता लिये हुए था। लेकिन इतना तय है कि यदि भारत का उपनिवेशीकरण नहीं होता तो अपनी स्वाभाविक गति और प्रक्रिया से यहाँ जो पूँजीवाद विकसित होता, वह आज के भारतीय पूँजीवाद जैसा रुग्ण-बौना-विकलांग नहीं होता। उसमें इतनी शक्ति होती कि वह मध्ययुगीन आर्थिक मूलाधार के साथ ही अधिरचना को भी चकनाचूर कर देता। यहाँ भी यूरोपीय पुनर्जागरण-प्रबोधन की भाँति कुछ आमूलगामी सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक तफ़ान उठ खड़े होते जो मानववाद, जनवाद और तर्कणा के मूल्यों को समाज के रूढ़-रूढ़ में पैठा देते। ऐसी स्थिति में भारतीय मानस भी प्राचीन भारत की भौतिकवादी चिन्तन-परम्परा का पुनःस्मरण करता और दर्शन-कला-साहित्य से लेकर जीवन-मूल्यों तक के धरातल में जुझारू भौतिकवादी चिन्तन की एक सशक्त आधुनिक परम्परा अस्तित्व में आती। लेकिन उपनिवेशीकरण ने इन सभी सम्भावनाओं को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। अंग्रेजों ने न केवल पूरे देश को समुद्री डाकुओं से भी अधिक बर्बर तरीके से लूटा-खसोटा, बल्कि उनकी नीतियों ने यहाँ कृषि से दस्तकारी और दस्तकारी से उद्योग तक की स्वाभाविक यात्रा की सारी सम्भावनाओं की भ्रूण हत्या कर दी। भूमि के औपनिवेशिक बन्दोबस्त ने भारत में एक नये किस्म की अर्द्धसामन्ती भूमि-व्यवस्था को जन्म दिया। विश्व प्रसिद्ध भारतीय दस्तकारी तबाह हो गयी और भारत की आर्थिक-सामाजिक गतिकी अपनी स्वतंत्र गति और स्वतंत्र सम्भावनाओं के साथ अकाल मृत्यु का शिकार हो गयी। इसकी दिशा और नियति पूरी तरह से ब्रिटिश वित्तीय पूँजी के हितों के अधीन हो गयी।

जिसे भारतीय इतिहासकार प्रायः “भारतीय पुनर्जागरण” की संज्ञा से विभूषित करते हैं, उसमें यूरोपीय पुनर्जागरण जैसा क्रान्तिकारी कुछ भी नहीं था। वह कोई महान या प्रगतिशील जनक्रान्ति कतई नहीं थी। वह

औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर पले-बढ़े एक छोटे से पढ़े-लिखे मध्यवर्ग की आवाज़ थी जो स्वामिभक्त ब्रिटिश प्रजा के रूप में कुछ अधिकारों की याचना कर रहा था। भारतीय समाज में सुधारों की इसकी माँग और इसके सुधार आन्दोलनों का प्रभाव शहरी मध्यवर्ग तक सीमित था और किसान-दस्तकार तथा आम मेहनतकश जनता उससे सर्वथा अछूती थी। आज़ादी की आधी सदी बाद भी भारतीय बौद्धिक जगत की निर्वीर्यता, जनविमुखता और कायरता इसी बात का प्रमाण है कि भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण या प्रबोधन जैसी कोई चीज़ कभी घटित ही नहीं हुई। हमारी सामाजिक संरचना में जनवाद और तर्कणा के मूल्यों के अभाव और आधुनिक पूँजीवादी जीवन-प्रणाली के साथ मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं का विचित्र सहअस्तित्व भी दरअसल इसी तथ्य को प्रमाणित करता है।

औपनिवेशिक काल में भारत में जिस पूँजीवाद का विकास हुआ, वह किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन का नहीं, बल्कि ब्रिटिश वित्तीय पूँजी के हितसाधन के लिए उठाये गये कदमों की गौण गति का परिणाम था जो उपनिवेशवादियों की इच्छा से स्वतंत्र था। इस मरियल, रीढ़विहीन पूँजीवाद की स्वाभाविक गति को भी उपनिवेशवाद ने कदम-कदम पर नियंत्रित और बाधित करने का काम किया। लेकिन इतिहास की गति शासक वर्गों के इच्छानुकूल नहीं होती और उनके द्वारा उठाया गया हर कदम स्वयंस्फूर्त ढंग से एक प्रतिरोधी गति एवं प्रभाव को गौण पहलू के रूप में जन्म देता है और फिर कालान्तर में यह गौण पहलू मुख्य पहलू भी बन जाया करता है। औपनिवेशिक काल में भारत में पूँजीवाद का विकास इसी रूप में हुआ और फिर उपनिवेशवाद के संकट, अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और विश्वयुद्धों का लाभ उठाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने अपनी शक्ति बढ़ाने का काम किया। अपनी बढ़ती शक्ति के अनुपात में ही इसकी आवाज़ भी मुखर होती गयी और फिर एक दिन इसने राजनीतिक आज़ादी भी हासिल कर ली, लेकिन यह राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति जैसा कुछ भी नहीं था। भारतीय पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद करने के बजाय उसके कनिष्ठ सहयोगी की भूमिका निभाई और भूमि क्रान्ति के जनवादी कार्यभार को भी एक झटके के साथ पूरा करने के बजाय क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण का दुस्सह यंत्रणादायी प्रतिगामी पथ अपनाया। ज़ाहिर है कि ऐसी स्थिति में सामाजिक-सांस्कृतिक-वैचारिक अधिरचना में भी, औपनिवेशिक काल और उत्तर औपनिवेशिक काल में कभी क्रान्तिकारी

परिवर्तन की कोई प्रक्रिया घटित ही नहीं हुई। यूरोपीय पूँजीवाद कम से कम पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की प्रक्रिया में जनता के साथ जुड़ा हुआ और प्रगतिशील मूल्यों का वाहक था। भारत में ऐसी कोई प्रक्रिया घटित ही नहीं हुई। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने शुरू से ही प्राक्-पूँजीवादी मूल्यों-मान्यताओं के साथ समझौते का रुख अपनाया और साम्राज्यवाद की सदी में क्रमिक विकास की प्रक्रिया में जिन बुर्जुआ मूल्यों को इसने क्रमशः अपनाया, वे तर्कणा, मानववाद, जनवाद और जुझारू भौतिकवाद के मूल्य नहीं थे, बल्कि सड़े-गले प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ मूल्य ही थे।

भारतीय पूँजीवाद कृषि से दस्तकारी और दस्तकारी से उद्योग की स्वाभाविक प्रक्रिया से नहीं जन्मा था। यह बर्गों की सन्तान नहीं था। यह आरोपित औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना की सन्तान था और इसका विकास उपनिवेशवाद के अनिवार्य आन्तरिक अन्तरविरोध का परिणाम था। क्रान्तिकारी संघर्ष के बजाय इसने 'समझौता-दबाव-समझौता' की रणनीति अपनाकर राजनीतिक स्वतंत्रता तक की यात्रा तय की। इसका चरित्र शुरू से ही दुहरा था। राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्यधारा का नेतृत्व करते हुए इसने जिन वायदों-नारों पर जनसमुदाय को साथ लिया, उनसे बार-बार मुकरता रहा और विश्वासघात करता रहा। ज़ाहिर है कि औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से पैदा हुआ और साम्राज्यवादी विश्व-परिवेश में पला-बढ़ा पूँजीवाद ऐसा ही हो सकता था। भारतीय समाज के औपनिवेशिक अतीत की इस त्रासदी को समझना ही राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के दौरान और आज के भारत में विभिन्न वर्गों की भूमिका को, उनके संघर्षों की कमजोरियों को, मूलाधार और अधिरचना के विविध पक्षों को, भावी परिवर्तन की दिशा और समस्याओं को तथा आज के आधुनिक पूँजीवादी समाज में पण्य-पूजा और अलगाव आदि पूँजीवादी विकृतियों के साथ-साथ मध्ययुगीन बर्बर परम्पराओं-रूढ़ियों-मान्यताओं के विचित्र सहमेल को समझने की एक कुंजीभूत कड़ी है। औपनिवेशिक अतीत के जन्मचिन्ह केवल भारतीय पूँजीपति वर्ग ही नहीं बल्कि अन्य वर्गों के शरीर पर भी अंकित हैं। पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की प्रक्रिया के हाशिए पर खड़ा रूस बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक मध्ययुगीन बर्बरता के आगोश में जकड़ा हुआ था, लेकिन चूँकि औपनिवेशिक गुलामी ने उसकी स्वतंत्र आन्तरिक गति का गला नहीं घोंटा था, इसलिए उस देश में हर्जेन, बेलिंस्की, चेर्नशेव्स्की, दोब्रोल्पोवोव जैसे क्रान्तिकारी जनवादी

विचारकों और पुश्किन, गोगोल, लर्मन्तोव, तुर्गनेव, तोल्स्तोय, दोस्तोयेव्स्की, कोप्रोलेंको, चेखव आदि यथार्थवादी लेखकों ने अपने कृतित्व से तथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवर्गीय क्रान्तिकारियों ने अपने शौर्य से न केवल एक भावी युगान्तरकारी क्रान्ति की ज़मीन तैयार की, बल्कि क्रान्तिकारी जनवादी विचारों से पूरे सामाजिक मानस को सींचने का काम किया। चीन भी निहायत पिछड़ा और साम्राज्यवादी लूट-खसोट से तबाह देश था, लेकिन भारत की तरह उसका पूर्ण उपनिवेशीकरण नहीं हो सका। इसीलिए न केवल उस देश ने सुनयात सेन, लू शुन और माओ जैसे जननायक पैदा किये, बल्कि वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी ने अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व पर अन्धी निर्भरता और अनुकरण के बजाय अपनी क्रान्ति का मार्ग स्वयं ढूँढ़ा। चीनी क्रान्ति ने आधी सदी के भीतर ही उत्पादन सम्बन्धों के साथ-साथ चीनी जनमानस में गहराई तक पैठे मध्ययुगीन बर्बर मूल्यों, रहस्यवाद और धार्मिक रूढ़ियों को काफ़ी हद तक उखाड़ फेंका था। इस तुलना के द्वारा (ध्यान रखते हुए कि हर तुलना लँगड़ी होती है) हम कहना यह चाहते हैं कि उपनिवेशीकरण की त्रासदी ने न केवल भारतीय पूँजीपति वर्ग को, बल्कि बुद्धिजीवियों और सर्वहारा वर्ग सहित हमारे समाज के सभी वर्गों को प्रभावित किया तथा उनके वैचारिक-सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों को कमज़ोर बनाने का काम किया। निश्चय ही, राष्ट्रीय आन्दोलन और वर्ग संघर्ष की ऊष्मा ने भारत में भी राधामोहन गोकुल और राहुल सांकृत्यायन जैसे उग्र परम्पराभंजक चिन्तक, भगतसिंह जैसे युवा विचारक क्रान्तिकारी और प्रेमचन्द जैसे महान जनवादी यथार्थवादी लेखक को जन्म दिया, लेकिन क्षितिज पर अनवरत प्रज्वलित इन मशालों की संख्या बहुत कम है, क्योंकि औपनिवेशिक भारत में किसी युगान्तरकारी वैचारिक-सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन की ज़मीन ही बहुत कमज़ोर थी। कोई आश्चर्य नहीं कि तिलक जैसे उग्र राष्ट्रवादी तथा युगान्तर-अनुशीलन के मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी राष्ट्रीय मुक्ति का नया वैचारिक आधार तर्कणा एवं भौतिकवादी विश्वदृष्टि आधारित मानववाद-जनवाद के आधार पर तैयार करने के बजाय खोये हुए “गौरवशाली” अतीत की पुनर्स्थापना और धार्मिक विश्वासों का सहारा लेते थे। गाँधी भारतीय परिस्थितियों में, बुर्जुआ मानववाद की प्रतिमूर्ति कहे जा सकते हैं, लेकिन जनमानस को साथ लेने के लिए उन्होंने रूढ़ियों, धार्मिक अन्धविश्वासों और पुरातनपंथी रीतियों का भरपूर सहारा लिया। इससे (“महात्मा” बनकर) जनता को साथ लेने में तो वे सफल रहे लेकिन साथ

ही, रूढ़ियों-परम्पराओं को पुनःसंस्कारित करके नया जीवन देने में भी उनकी भूमिका अहम हो गयी। राष्ट्रीय आन्दोलन की विभिन्न धाराओं के अधिकांश मुख्य नायकों के विचारों की तुलना यदि वाल्टेयर, दिदेरो, रूसो या टामस पेन, जफ़ैर्सन, वाशिंगटन या हर्ज़ेन, चेर्निशेव्स्की आदि के उग्र रूढ़िभंजक विचारों से करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय आन्दोलनकालीन अधिकांश भारतीय राष्ट्रीय जनवादी विचारकों ने काफ़ी हद तक “भविष्य की कविता” के बजाय “अतीत की कविता” को अपना आदर्श और प्रेरक स्रोत बनाया और फ़लतः अपने दौर में एक प्रगतिशील भूमिका निभाने के बावजूद, दूरगामी तौर पर, वस्तुगत रूप में पुनरुत्थानवादी और रूढ़िवादी यथास्थितिवाद की ज़मीन को ही मज़बूत करने का काम किया।

आज़ादी मिलने के बाद के छह दशकों के दौरान हमारे देश में सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के टूटने और पूँजीवादी विकास की जो क्रमिक, मंथर प्रक्रिया रही है, वह आर्थिक धरातल पर तो घोर यंत्रणादायी और जनविरोधी रही ही है, मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं के धरातल पर भी यह प्रक्रिया कुछ भी ऊर्जस्वी और सकारात्मक दे पाने की क्षमता से सर्वथा रिक्त रही है। भारतीय पूँजीपति वर्ग किसी भी सामाजिक आन्दोलन में जनसमुदाय की पहलकदमी और सृजनशीलता के निर्बन्ध होने से हमेशा ही आतंकित रहा है। इसीलिए हमारे देश में पूँजीवादी विकास का रास्ता “नीचे से” नहीं बल्कि “ऊपर से” अपनाया गया, यानी जन-पहलकदमी और सामाजिक आन्दोलनों के बजाय बुर्जुआ राज्यसत्ता की नीतियों पर अमल के द्वारा यहाँ पूँजीवाद का क्रमिक विकास हुआ, जिसकी सबसे तेज़ गति चार दशक बाद 1990 के दशक में देखने को मिली, जब पूरी दुनिया साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण की चपेट में आ चुकी थी।

ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक तौर पर समझा जा सकता है कि बुर्जुआ जनवाद के स्वस्थ-सकारात्मक मूल्य क्यों हमारे समाज के ताने-बाने में पैठ ही नहीं पाये। किसी नागरिक को जो सीमित जनवादी और नागरिक अधिकार तथा व्यक्तिगत आज़ादी संविधान की किताब और क़ानून की धाराएँ प्रदान करती भी हैं, उन्हें न केवल पुलिस और प्रशासन का तंल उस तक पहुँचने नहीं देता, बल्कि मध्ययुगीन रूढ़ियों-परम्पराओं का सामाजिक-सांस्कृतिक वर्चस्व भी उन्हें निष्प्रभावी बनाने में एक अहम भूमिका निभाता है। रूढ़ियों का यह सामाजिक-सांस्कृतिक वर्चस्व ही वह प्रमुख उपादान है, जिसके जरिए

प्रभुत्वशाली वर्ग और उसकी राज्यसत्ता आम जनता से अपने शासन के पक्ष में “स्वयंस्फूर्त” सी प्रतीत होने वाली सहमति प्राप्त करती है।

कहा जा सकता है कि भारतीय बुर्जुआ समाज क्लासिकी अर्थों में, पूरी तरह से एक नागरिक समाज नहीं बन पाया है, क्योंकि न केवल प्राक्-बुर्जुआ समाज की विविध सामुदायिक अस्मिताएँ, बल्कि मूल्य-मान्यताएँ-संस्थाएँ भी आज प्रभावी और वर्चस्वकारी रूप में मौजूद हैं। लेकिन ये मूल्य-मान्यताएँ-संस्थाएँ किसी सामन्ती अभिजन समाज की नहीं, बल्कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग या कहें कि भारतीय बुर्जुआ समाज के नये, आधुनिक अभिजन समाज की सेवा करती हैं। जो भारतीय बुर्जुआ वर्ग नये बुर्जुआ मूल्यों के सृजन में जन्म से ही असमर्थ था उसने एक क्रमिक प्रक्रिया में अर्द्धसामन्ती आर्थिक सम्बन्धों को तो नष्ट किया लेकिन सामन्ती मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं को किंचित संशोधन-परिष्कार के साथ अपना लिया और बुर्जुआ राज और समाज की सेवा में, या कहें कि पूँजीवाद की सेवा में सन्नद्ध कर लिया। यह कृषि और औद्योगिक उत्पादन में तो बुर्जुआ तर्कपरकता की शिक्षा देता है, लेकिन कला-साहित्य-संस्कृति और सामाजिक जीवन में अवैज्ञानिक मध्ययुगीन मूल्यों को अक्षत बने रहने देता है और न केवल बने रहने देता है, बल्कि उन्हें खाद-पानी देने का काम भी करता है।

कुछ उदाहरण लें। दहेज एक पुरानी सामन्ती संस्था है। लेकिन आज शहरों के आधुनिक मध्यवर्ग और व्यापारियों में इसका चलन सबसे ज़्यादा है। दहेज के लिए स्त्रियाँ जला दी जाती हैं और फिर दहेज बटोरने के लिए एक और शादी का रास्ता साफ़ हो जाता है। यानी दहेज, व्यापार या उद्यम के लिए पूँजी जुटाने का एक माध्यम बन गया है, न कि सामन्ती शान का प्रतीक रह गया है। यही कारण है कि पहले दहेज का खूब प्रदर्शन होता था, पर आज यह छिपाकर, पर्दे की ओट में ले लिया जाता है। सभी बुर्जुआ चुनावी पार्टियाँ अपनी नीतियाँ बुर्जुआ शासक वर्गों के हितसाधन के लिए तैयार करती हैं और आम लोग भी जानते होते हैं कि उनमें से कोई भी उनकी ज़िन्दगी में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं ला सकता, लेकिन भारत में वोट बैंक की राजनीति किसी भी लोकलुभावन आर्थिक वायदे या राजनीतिक नारे से अधिक जातिगत समीकरणों पर आधारित होती है। जातियों और उनकी पंचायतों के मुखियाओं के माध्यम से आम जनता की जातिगत एकता के संस्कारों का लाभ उठाकर, उनके वोट आसानी से हासिल कर लिये जाते हैं। भारत के चुनाव विशेषज्ञों की

सारी विशेषज्ञता इस बात में निहित होती है कि वे जातिगत सामाजिक समीकरणों को किस हद तक समझते हैं। टेलीविजन आधुनिकतम प्रौद्योगिकी-आधारित एक ऐसा माध्यम है जो जनमानस और सांस्कृतिक मूल्यों को बदलने में शायद सबसे प्रभावी भूमिका निभा सकता है। लेकिन टेलीविजन पर धार्मिक प्रचार के चैनलों की संख्या एक दर्जन के आसपास है, जबकि विज्ञान-तकनोलॉजी-वैज्ञानिक जीवन दृष्टि पर केन्द्रित एक भी चैनल नहीं है। न्यूज चैनलों से लेकर मनोरंजन के चैनलों तक सर्वाधिक सामग्री जादू-टोना, भूत-प्रेत, अन्धविश्वास, परम्परा-पूजा और रूढ़ियों के प्रचार से जुड़ी होती है।

इन सभी उदाहरणों के माध्यम से हम कहना यह चाहते हैं कि भारतीय समाज एक ऐसा विशिष्ट प्रकृति का पूँजीवादी समाज है जिसमें उत्पादन और विनिमय की प्रणाली के स्तर पर पूँजी का, बाज़ार का वर्चस्व स्थापित हो चुका है, पर इस विशिष्ट प्रकृति के पूँजीवाद ने अधिकांश प्राक्-पूँजीवादी मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं को तोड़ने के बजाय अपना लिया है तथा विविध रूपों में पूँजी और पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा में सन्नद्ध कर दिया है। हमारे समाज में तमाम मध्ययुगीन स्वेच्छाचारी मूल्यों-मान्यताओं के साथ ही अलगाव, पण्यपूजा, व्यक्तिवाद और बुर्जुआ निरंकुशता जैसे पतनशील बुर्जुआ मूल्यों का एक विचित्र सहमेल मौजूद है। पुरानी बुराइयों के साथ नयी बुराइयों का यह सहअस्तित्व बुर्जुआ समाज के हर प्रकार के अन्याय को सामाजिक स्वीकृति प्रदान करने का काम करता है। यह एक ऐसा बुर्जुआ समाज है जिसमें प्राक्-नागरिक समाज के मूल्यों-मान्यताओं का सहारा लेकर शोषक वर्ग शासित वर्ग में यह भ्रम पैदा करता है कि व्यवस्था उनकी सहमति (कन्सेण्ट) से चल रही है। इस रूप में शासक वर्ग शासित वर्गों पर अपना वर्चस्व, यानी सहयोजन के साथ प्रभुत्व, स्थापित करता है, जैसा कि प्रत्येक नागरिक समाज में होता है। इस वर्चस्व के जरिये बुर्जुआ राज्य की रक्षा होती है और अपनी पारी में, राज्य अपनी संस्थाओं के जरिए इस वर्चस्व को बनाये रखने में भूमिका निभाता है। यानी भारत का बुर्जुआ समाज एक ऐसा नागरिक समाज है, जिसमें शासक वर्ग के वर्चस्व को बनाये रखने में प्राक्-नागरिक समाज की अस्मिताओं-मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं की अहम भूमिका होती है। इन अर्थों में यहाँ की स्थिति यूरोपीय नागरिक समाजों से काफ़ी हद तक भिन्न है।

लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि वैचारिक-सांस्कृतिक स्तर पर आज प्राक्-नागरिक समाज के मूल्यों-मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष करके एक

यूरोपीय ढंग के नागरिक समाज, (यानी बुर्जुआ समाज) के मूल्यों-मान्यताओं को स्थापित किया जा सकता है। इतिहास के इस दौर में यह सम्भव नहीं है। हम पीछे मुड़कर बुर्जुआ पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की प्रक्रिया नये सिरे से शुरू नहीं कर सकते। इतिहास की विशिष्ट गति से आविर्भूत जो भी भारतीय बुर्जुआ समाज हमारे सामने मौजूद है, उसे नष्ट करके ही इसकी सभी बुराइयों से छुटकारा पाया जा सकता है जिनमें मध्ययुगीन मूल्य-मान्यताएँ भी शामिल हैं। नये सिरे से एक आदर्श बुर्जुआ समाज नहीं बनाया जा सकता। वर्तमान बुर्जुआ समाज का विकल्प एक ऐसा समाज ही हो सकता है, जिसमें उत्पादन मुनाफ़े के लिए नहीं बल्कि सामाजिक आवश्यकताओं को केन्द्र में रखकर होता हो, जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज पर बहुसंख्यक उत्पादक जनसमुदाय का नियंत्रण कायम हो। ऐसे समाज में न केवल श्रम विभाजन, अलगाव और पण्यपूजा की संस्कृति नहीं होगी, बल्कि तर्कणा, जनवाद और व्यक्तिगत आज़ादी का निषेध करने वाली सभी मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं का अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा। ज़ाहिर है कि यह सबकुछ एक झटके से नहीं हो जायेगा। राजनीतिक व्यवस्था-परिवर्तन और आर्थिक सम्बन्धों के परिवर्तन के साथ-साथ और उसके बाद भी सतत् सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद ही ऐसा सम्भव हो सकेगा।

हरेक राजनीतिक आन्दोलन की पूर्ववर्ती, सहवर्ती और अनुवर्ती सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन की स्वयंस्फूर्त धाराएँ अनिवार्यतः उपस्थित होती हैं। लेकिन इन सहवर्ती-अनुवर्ती धाराओं की स्वयंस्फूर्त गति एवं परिणति पर नियतत्ववादी ढंग से ज़ोर नहीं दिया जाना चाहिए। यानी, यह मानकर नहीं चला जाना चाहिए कि राजनीतिक व्यवस्था-परिवर्तन और आर्थिक सम्बन्धों के बदलने के साथ ही सामाजिक-सांस्कृतिक अधिरचनात्मक तंत्र भी स्वतः बदल जायेगा। आर्थिक मूलाधार से आविर्भूत-निर्धारित होने के बावजूद अधिरचना की अपनी सापेक्षतः स्वतंत्र गति होती है और उसे बदलने के लिए अधिरचना के धरातल पर भी सचेतन प्रयास की, अधिरचना में क्रान्ति की आवश्यकता होती है। राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों को जन्म और गति देती है और साथ ही सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन राजनीतिक परिवर्तन की प्रक्रिया को मज़बूत, गतिमान और गहरा बनाते हैं। भारत में औपनिवेशिक दौर, राष्ट्रीय आन्दोलन और उसके बाद पूँजीवादी समाज विकास का जो विशिष्ट इतिहास रहा, आज के समाज में मध्ययुगीन

मूल्यों-मान्यताओं-संस्थाओं की मौजूदगी उसी का एक प्रतिफल है। जो काम राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के दौर में हो सकता था, वह नहीं हुआ। सामाजिक-सांस्कृतिक जड़ता किंचित सुगबुगाहट और ऊपरी बदलावों के बावजूद बनी रही। अब एक प्रबल वेगवाही सामाजिक झंझावात ही इस जड़ता को तोड़कर भारतीय समाज की शिराओं में एक नयी ऊर्जस्विता और संवेग का संचार कर सकता है। यह तफ़ान पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना और राजनीतिक व्यवस्था के साथ ही उन सभी नये-पुराने मूल्यों और संस्थाओं को भी अपना निशाना बनायेगा जो इस व्यवस्था से सहारा पाते हैं और इसे सहारा देते हैं।

प्रेम की आज़ादी के प्रश्न को भी इसी ऐतिहासिक-सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में देखा-समझा जा सकता है। व्यक्तिगत और खण्डित संघर्ष इस प्रश्न को एजेण्डा पर उपस्थित तो कर सकते हैं, लेकिन हल नहीं कर सकते। सामाजिक ताने-बाने में जनवाद और व्यक्तिगत आज़ादी के अभाव और मध्ययुगीन कबीलाई, निरंकुश स्वेच्छाचारिता के प्रभुत्व को तोड़े बिना, परम्पराओं और रूढ़ियों की जकड़बन्दी को छिन्न-भिन्न किये बिना, प्रेम की आज़ादी हासिल नहीं की जा सकती। इसलिए यह सवाल एक आमूलगामी सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति का सवाल है। हमें भूलना नहीं होगा कि प्रेम और जीवन-साथी चुनने की आज़ादी का प्रश्न जाति प्रश्न और स्त्री-प्रश्न से तथा धार्मिक आधार पर कायम सामाजिक पार्थक्य की समस्या से बुनियादी रूप से जुड़ा हुआ है। इन प्रश्नों पर एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन ही समस्या के अन्तिम हल की दिशा में जाने वाला एकमात्र रास्ता है। और साथ ही, इसके बिना, राजनीतिक व्यवस्था-परिवर्तन की किसी लड़ाई को भी अंजाम तक नहीं पहुँचाया जा सकता। जो समाज अपनी युवा पीढ़ी को अपनी ज़िन्दगी के बारे में बुनियादी फैसले लेने तक की इजाज़त नहीं देता, जहाँ परिवार में पुरानी पीढ़ी और पुरुषों का निरंकुश स्वेच्छाचारी अधिनायकत्व आज भी प्रभावी है, जिस समाज के मानस पर रूढ़ियों-परम्पराओं की आक्टोपसी जकड़ कायम है, वह समाज बुर्जुआ समाज के सभी अन्याय-अनाचार को और बुर्जुआ राज्य के वर्चस्व को स्वीकारने के लिए अभिशप्त है। इसीलिए, कोई आश्चर्य नहीं कि संविधान और कानून की किताबों में व्यक्तिगत आज़ादी और जनवाद की दुहाई देने वाली बुर्जुआ राज्यसत्ता अपने तमाम प्रचार-माध्यमों के जरिए धार्मिक-जातिगत रूढ़ियों-मान्यताओं, अन्धविश्वासों और मध्ययुगीन मूल्यों को बढ़ावा देने का काम करती है, क्योंकि इन्हीं के माध्यम से वह जनसमुदाय

से अपने शासन के लिए एक किस्म की “स्वयंस्फूर्त” सहमति हासिल करती है और यह भ्रम पैदा करती है कि उसका प्रभुत्व जनता की सहमति से कायम है। जो समाज भविष्य के नागरिकों को रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करने की इजाज़त नहीं देता, वह अपनी गुलामी की बेड़ियों को खुद ही मज़बूत बनाने का काम करता है। इन्हीं रूढ़ियों-परम्पराओं के ऐतिहासिक कूड़े-कचरे के ढेर से वे फ़ासिस्ट गिरोह खाद-पानी पाते हैं जो मूलतः एक असाध्य संकटग्रस्त बुर्जुआ समाज की उपज होते हैं। “अतीत के गौरव” की वापसी का नारा देती हुई ये फ़ासिस्ट शक्तियाँ वस्तुतः पूँजी के निरंकुश सर्वसत्तावादी शासन की वकालत करती हैं और धार्मिक-जातिगत-नस्ली-लैंगिक रूढ़ियों को मज़बूत बनाकर व्यवस्था की बुनियाद को मज़बूत करने में एक अहम भूमिका निभाती हैं। बाबू बजरंगी और प्रेमी जोड़ों पर हमले करने वाले गुण्डा गिरोह इन्हीं शक्तियों के प्रतिनिधि उदाहरण हैं।

प्रेम की आज़ादी का सवाल रूढ़ियों के विद्रोह का प्रश्न है। यह जाति-प्रथा के विरुद्ध भी विद्रोह है। सच्चे अर्थों में प्रेम की आज़ादी का प्रश्न स्त्री की आज़ादी के प्रश्न से भी जुड़ा है, क्योंकि प्रेम आज़ाद और समान लोगों के बीच ही वास्तव में सम्भव है। प्रेम के प्रश्न को हम सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के बुनियादी प्रश्न से अलग काटकर नहीं देख सकते। सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति के एजेण्डा से हम इस प्रश्न को अलग नहीं कर सकते। इस प्रश्न को लेकर हमारे समाज में संघर्ष के दो रूप बनते हैं। एक, फ़ौरी तथा दूसरा दूरगामी। फ़ौरी तौर पर, जब भी कहीं कोई बाबू बजरंगी या धार्मिक कट्टरपंथियों का कोई गिरोह या कोई जाति-पंचायत प्रेमी जोड़ों को जबरन अलग करती है या कोई सज़ा सुनाती है, तो यह व्यक्तिगत आज़ादी या जनवादी अधिकार का एक मसला बनता है। इस मसले को लेकर क्रान्तिकारी छात्र-युवा संगठनों, सांस्कृतिक संगठनों, नागरिक अधिकार संगठनों आदि को आगे आना चाहिए और रस्मी कवायदों से आगे बढ़कर प्रतिरोध की संगठित आवाज़ उठानी चाहिए, संविधान और क़ानून रस्मी तौर पर हमें जो अधिकार देते हैं उनका भी सहारा लेना चाहिए और व्यापक आम जनता के बीच अपनी बात ले जाकर समर्थन हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। यह प्रक्रिया युवा समुदाय और समाज के प्रबुद्धतत्वों की चेतना को ‘रैडिकलाइज़’ करने का भी काम करेगी। लेकिन मात्र इसी उपक्रम को समस्या का अन्तिम समाधान मान लेना एक सुधारवादी दृष्टिकोण होगा। यह केवल फ़ौरी कार्यभार ही हो सकता है। इसके साथ एक

दूरगामी कार्यभार भी है और वही फ़ौरी कार्यभार को भी एक क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है। प्रेम की आज़ादी का प्रश्न बुनियादी तौर पर समाज के मौजूदा आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक ढाँचे के क्रान्तिकारी परिवर्तन से जुड़ा हुआ है और इस रूप में यह बुर्जुआ समाज-विरोधी नयी मुक्ति-परियोजना का एक अंग है। जातिगत-धार्मिक रूढ़ियों से मुक्ति और स्त्रियों की आज़ादी के प्रश्न से भी यह अविभाज्यतः जुड़ा हुआ है। इस रूप में इस समस्या का हल एक दीर्घकालिक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य के बिना सम्भव नहीं। व्यवस्था-परिवर्तन के क्रान्तिकारी संघर्ष की कड़ियों के रूप में संगठित युवाओं के आन्दोलन, सांस्कृतिक आन्दोलन, स्त्री-आन्दोलन और नागरिक अधिकार आन्दोलन की एक लम्बी और जुझारू प्रक्रिया ही इस समस्या के निर्णायक समाधान की दिशा में भारतीय समाज को आगे ले जा सकती है। यही नहीं, व्यवस्था-परिवर्तन के बाद भी समाज की हरावल शक्तियों को सामाजिक-सांस्कृतिक अधिरचना में सतत क्रान्ति की दीर्घकालिक प्रक्रिया चलानी होगी, तभी सच्चे अर्थों में समानता और आज़ादी की सामाजिक व्यवस्था कायम होने के साथ ही रूढ़ियों की दिमागी गुलामी से और मानवद्रोही पुरातनपंथी मूल्यों के सांस्कृतिक वर्चस्व से छुटकारा मिल सकेगा और सच्चे अर्थों में आदर्श मानवीय प्रेम को ज़िन्दगी की सच्चाई बनाया जा सकेगा, जो कम से कम आज, सुदूर भविष्य की कोई चीज़ प्रतीत होती है।

अब इस प्रश्न के एक और पहलू पर भी विचार कर लिया जाना चाहिए। चाहे अन्तर्जातीय-अन्तर्धार्मिक विवाह करने वाले किसी युवा जोड़े पर जाति-बिरादरी के पंचों द्वारा बर्बर अत्याचार का सवाल हो, चाहे एम.एफ.हुसैन के चित्रों के विरुद्ध हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्टों की मुहिम हो, या चाहे नागरिक अधिकार, जनवादी अधिकार और व्यक्तिगत आज़ादी से जुड़ा कोई भी मसला हो, इन सवालों पर पढ़े-लिखे मध्यवर्ग का या आम छात्रों-युवाओं का भी बड़ा हिस्सा संगठित होकर सड़कों पर नहीं उतरता। ऊपर हमने इसके सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों की आम चर्चा की है। लेकिन उस आम कारण के एक विशिष्ट विस्तार पर भी चर्चा ज़रूरी है, जो आज के भारतीय समाज में प्रगतिशील एवं जनवादी माने जाने वाले बुद्धिजीवियों की स्थिति और आम जनता के विभिन्न वर्गों के साथ उनके रिश्तों से जुड़ी हुई है।

जब भी अन्तर्जातीय-अन्तर्धार्मिक प्रेम या विवाह करने वाले किसी जोड़े पर अत्याचार की या नागरिक अधिकार के हनन की कोई घटना सामने आती

है तो दिल्ली या किसी राज्य की राजधानी या किसी अन्य महानगर की सड़कों पर कुछ थोड़े से मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी उसके प्रतीकात्मक विरोध के लिए आगे आते हैं। (दिल्ली में) मण्डी हाउस से होकर जन्तर मन्तर तक, कहीं भी कुछ लोग धरने पर बैठ जाते हैं, किसी एक शाम को मोमबत्ती जुलूस या मौन जुलूस निकाल दिया जाता है, एक जाँच दल घटना-स्थल का दौरा करने के बाद वापस आकर प्रेस के लिए और बुद्धिजीवियों के बीच सीमित वितरण के लिए एक रिपोर्ट जारी कर देता है और कुछ जनहित याचिकाएँ दाखिल कर दी जाती हैं। इन सभी कार्रवाइयों का दायरा अत्यन्त सीमित और अनुष्ठानिक होता है। इनका कर्ता-धर्ता जो बुद्धिजीवी समुदाय होता है, वह केवल तात्कालिक और संकुचित दायरे की इन गतिविधियों से अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री करके अपने प्रगतिशील और जनवादी होने का “प्रमाण” प्रस्तुत कर देता है। व्यापक आम आबादी तक अपनी बात पहुँचाने का, प्रचार और उद्देलन की विविधरूपा कार्रवाइयों द्वारा उसे जागृत और संगठित करने का तथा ऐसे तमाम मुद्दों को लेकर सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन संगठित करने का कोई दूरगामी-दीर्घकालिक कार्यक्रम उनके एजेण्डे पर वस्तुतः होता ही नहीं। उनकी अपेक्षा केवल सत्ता से होती है कि वह संवैधानिक प्रावधानों-क़ानूनों का सहारा लेकर प्रतिक्रियावादी सामाजिक-राजनीतिक ताकतों के हमलों से आम लोगों के जनवादी अधिकारों और व्यक्तिगत आज़ादी की हिफ़ाजत सुनिश्चित करे। लोकतंत्र के मुखौटे को बनाये रखने के लिए सरकार और प्रशासन तंत्र भी कुछ रस्मी कार्रवाई करते हैं, कभी-कभार कुछ जाँच, कुछ गिरफ्तारियाँ होती हैं और कुछ क़ानूनी कार्रवाइयाँ भी शुरू होती हैं और फिर समय बीतने के साथ ही सब कुछ ठण्डा पड़ जाता है।

दरअसल सत्ता और सभी पूँजीवादी चुनावी दलों के सामाजिक अवलम्ब ज़मीनी स्तर पर वही प्रतिगामी और रूढ़िवादी तत्व होते हैं, जो सामाजिक स्तर पर जाति-उत्पीड़न, स्त्री-उत्पीड़न और धार्मिक अल्पसंख्यकों के अलगाव एवं उत्पीड़न के सूत्रधार होते हैं। इसलिए हमारे देश की बुर्जुआ सत्ता यदि चाहे भी तो उनके विरुद्ध कोई कारगर क़दम नहीं उठा सकती। यदि उसे सीमित हद तक कोई प्रभावी क़दम उठाने के लिए मज़बूर भी करना हो तो व्यापक जन-भागीदारी वाले किसी सामाजिक आन्दोलन के द्वारा ही यह सम्भव हो सकता है। इससे भी अहम बात यह है कि ऐसा कोई सामाजिक आन्दोलन सत्ता के क़दमों और क़ानूनों का मोहताज़ नहीं होगा, वह स्वयं नये सामाजिक मूल्यों

को जन्म देगा, जनमानस में उन्हें स्थापित करेगा और रुढ़िवादी शक्तियों एवं संस्थाओं के वर्चस्व को तोड़ने की आमूलगामी प्रक्रिया को आगे बढ़ायेगा। इस काम को वह बुद्धिजीवी समाज कत्तई अंजाम नहीं दे सकता जो प्रगतिशील, वैज्ञानिक और जनवादी मूल्यों का आग्रही तो है, लेकिन समाज में उन मूल्यों को स्थापित करने के लिए न तो कोई तकलीफ़ झेलने के लिए तैयार है और न ही कोई जोखिम उठाने के लिए तैयार है।

जो बुद्धिजीवी आज वामपंथी, प्रगतिशील, सेक्युलर और जनवादी होने का दम भरते हैं तथा तमाम रस्मी एवं प्रतीकात्मक कार्रवाइयों में लगे रहते हैं, उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर निगाह डालने से बात साफ़ हो जायेगी। प्रायः ये महानगरों में रहने वाले विश्वविद्यालयों-कालेजों के प्राध्यापक, मीडियाकर्मी, वकील, फ्रीलांसर पत्रकार व लेखक तथा एन.जी.ओ. व सिविल सोसाइटी संगठनों के कर्त्ता-धर्ता हैं। कुछ थोड़े से डॉक्टर, इंजीनियर जैसे स्वतंत्र प्रोफेशनल्स और नौकरशाह भी इनमें शामिल हैं जो प्रायः प्रगतिशील लेखक या संस्कृतिकर्मी हुआ करते हैं। आर्थिक आय की दृष्टि से इनमें से अधिकांश का जीवन सुरक्षित है, इनकी एक सामाजिक हैसियत और इज्जत है। यह कथित प्रगतिशील जमात आज़ादी के बाद की आधी सदी, विशेषकर पिछले लगभग तीन दशकों के दौरान, तेज़ी से सुख-सुविधा सम्पन्न हुए मध्यवर्ग की उस ऊपरी परत का अंग बन चुकी है, जिसे इस पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर आर्थिक सुरक्षा के साथ ही सामाजिक हैसियत की बाढ़ेबन्दी की सुरक्षा और जनवादी अधिकार भी हासिल हैं। इस सुविधासम्पन्न विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यक उपभोक्ता वर्ग में प्रोफेसर, मीडियाकर्मी, वकील आदि के रूप में रोज़ी कमाने वाले जो प्रगतिशील लोग शामिल हैं, वे अपने निजी जीवन में यदि जाति-धर्म को नहीं मानते हैं, स्वयं प्रेम विवाह करते हैं, अपने बच्चों को इसकी इजाज़त देते हैं और प्रगतिशील आचरण करते हैं, तो भी वे इन मूल्यों को व्यापक आम आबादी के बीच ले जाने के लिए किसी सामाजिक-सांस्कृतिक मुहिम का भागीदार बनने की जहमत या जोखिम नहीं उठाते। साथ ही, इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो प्रगतिशीलता की बात तो करते हैं, लेकिन अपनी निजी व पारिवारिक जिन्दगी में निहायत पुराणपंथी हैं। चुनावी वामपंथी दलों के नेताओं में से अधिकांश ऐसे ही हैं। इनमें से पहली कोटि के प्रगतिशीलों का कुलीनतावादी जनवाद और वामपंथ हो या दूसरी कोटि के प्रगतिशीलों का दोगला-दुरंगा जनवाद और वामपंथ-मेहनतकश और सामान्य मध्यवर्ग के लोग उन्हें भली-

भाँति पहचानते हैं और उनसे घृणा करते हैं। कुलीनतावादी प्रगतिशीलों और छद्म वामपंथियों का जीवन मुख्य तौर पर देश के ऊपरी पन्द्रह-बीस करोड़ आबादी के जीवन का हिस्सा बन चुका है, उस उच्च मध्यवर्गीय आबादी का हिस्सा बन चुका है जो एक लम्बी पीढ़ादायी क्रमिक प्रक्रिया में, विकृत और आधे-अधूरे ढंग से, पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों के पूरा होने के बाद, आम जनसमुदाय के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात कर चुका है। उसे देश की लगभग पचपन करोड़ सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी या रोजाना बीस रुपये से कम पर जीने वाली चौरासी करोड़ आबादी के जीवन के अँधेरे और यंत्रणाओं से अब कुछ भी लेना-देना नहीं रह गया है। एक परजीवी जमात के रूप में वह मेहनतकशों से निचोड़े गये अधिशेष का भागीदार बन चुका है। आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से इस परजीवी वर्ग का हिस्सा बन चुके जो बुद्धिजीवी प्रगतिशील, जनवादी और सेक्युलर विचार रखते हैं, उनकी कुलीनतावादी, अनुष्ठानिक, नपुंसक प्रगतिशीलता आम लोगों में घृणा और दूरी के अतिरिक्त भला और कौन सा भाव पैदा कर सकती है? इस तबके की जो स्त्रियाँ हैं, ऊपरी तौर पर आमलोगों को वे आज़ाद लगती हैं (हालाँकि वस्तुतः ऐसा होता नहीं) और यह आज़ादी उनकी विशेष सुविधा प्रतीत होती है जिसके चलते मेहनतकश और आम मध्यवर्ग की स्त्रियाँ (ऊपर से सम्मान देती हुई भी) उनसे बेगानगी या घृणा तक का भाव महसूस करती हैं तथा उन्हें अपने से एकदम अलग मानती हैं।

उपरोक्त पूरी चर्चा के जरिए हम इस सच्चाई की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं कि प्रेम करने की आज़ादी पर रोक सहित किसी भी मध्ययुगीन बर्बरता, धार्मिक कट्टरपंथी हमले या जातिवादी उत्पीड़न के विरुद्ध कुलीनतावादी प्रगतिशीलों की रस्मी, प्रतीकात्मक कार्रवाइयों का रूढ़िवादी शक्तियों और मूल्यों पर तो कोई असर नहीं ही पड़ता है, उल्टे आम जनता पर भी इनका उल्टा ही प्रभाव पड़ता है। सुविधासम्पन्न, कुलीनतावादी प्रगतिशीलों का जीवन आम लोगों से इतना दूर है कि उनके जीवन-मूल्य (यदि वास्तविक हों तो भी) जनता को आकृष्ट नहीं करते।

एक दूसरी बात जो गौरतलब है, वह यह कि आज के भारतीय समाज में मध्ययुगीन बुराइयों के साथ-साथ आधुनिक बुर्जुआ जीवन की तमाम बुराइयाँ और विकृतियाँ भी मौजूद हैं। आम लोगों को पुरानी बुराइयों के विकल्प के तौर पर समाज में आधुनिक बुर्जुआ जीवन की बुराइयाँ ही नज़र आती हैं। पुरानी

बुराइयों के साथ जीने की उन्हें आदत पड़ चुकी है। उनसे उनका परिचय पुराना है। इसलिए नई बुराइयाँ उन्हें ज्यादा भयावह प्रतीत होती हैं। आधुनिक बुर्जुआ जीवन की सामाजिक-सांस्कृतिक विकृतियों को देखकर वे पुराने जीवन-मूल्यों से चिपके रहने का स्वाभाविक विकल्प चुनते हैं। महानगरों में तरह-तरह के सेक्स रैकेट्स, प्रेम विवाहों की विफलता, यौन अपराधों आदि की खबरें पढ़-सुनकर और मीडिया में बढ़ती अश्लीलता आदि देखकर आम नागरिक इन्हें आधुनिक जीवन का प्रतिफल मानते हैं और इनसे सहज प्रतिक्रियास्वरूप उन रूढ़ियों को अपना शरण्य बनाते हैं जिनके साथ जीने के वे शताब्दियों से और पीढ़ियों से आदि रहे हैं। इसका एक वस्तुगत कारण आज की ऐतिहासिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों में भी मौजूद है, जब प्रगति की धारा पर विपर्यय और प्रतिगामी पुनरुत्थान की धारा हावी है और चतुर्दिक गतिरोध का माहौल है। और मनोगत कारण यह है कि विपर्यय और गतिरोध के इस दौर में ऐतिहासिक परिवर्तन की वाहक मनोगत शक्तियाँ अभी बिखरी हुई और निहायत कमज़ोर हैं। नये सिरे से नयी ज़मीन पर उनके उठ खड़े होने की प्रक्रिया अभी एकदम शुरुआती दौर में है। ऐसी ही शक्तियाँ अपने विचार और व्यवहार के द्वारा जनता के सामने मध्ययुगीन और विकृत बुर्जुआ जीवन मूल्यों का नया, मानवीय और वैज्ञानिक विकल्प प्रस्तुत कर सकती हैं।

फ़िलहाल की गतिरुद्ध स्थिति के बारे में भगतसिंह का उद्धरण एकदम सटीक ढंग से लागू होता है और ऐसी स्थिति में नयी क्रान्तिकारी शक्तियों के दायित्व के बारे में भी यह एकदम सही बात कहता है: “जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है तो किसी भी प्रकार की तब्दीली से वे हिचकिचाते हैं। इस जड़ता और निष्क्रियता को तोड़ने के लिए एक क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की ज़रूरत होती है, अन्यथा पतन और बर्बादी का वातावरण छा जाता है। लोगों को गुमराह करने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जनता को ग़लत रास्ते पर ले जाने में सफल हो जाती हैं। इससे इंसान की प्रगति रुक जाती है और उसमें गतिरोध आ जाता है। इस परिस्थिति को बदलने के लिए यह ज़रूरी है कि क्रान्ति की स्पिरिट ताज़ा की जाए, ताकि इंसानियत की रूह में हरकत पैदा हो।

जैसा कि हमने ऊपर चर्चा की है, सच्चे अर्थों में दो स्त्री-पुरुष नागरिकों के बीच प्रेम की आज़ादी का प्रश्न इतिहास का एक दीर्घकालीन प्रश्न है। केवल पुरातन मध्ययुगीन रूढ़ियाँ, जाति और धर्म के बन्धन और बड़े-बुजुर्गों का

निरंकुश स्वेच्छाचारी वर्चस्व ही प्रेम करने की मानवीय आज़ादी के राह की बाधाएँ नहीं हैं। जिस समाज में पूँजी का जीवन पर चतुर्दिक वर्चस्व स्थापित हो, उस समाज में मनुष्य की तमाम आज़ादियों के साथ ही प्रेम करने की आज़ादी पर भी, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में, स्थूल और सूक्ष्म रूप में, प्रेम की स्वतंत्रता पर एक हज़ार एक पाबन्दियाँ अनिवार्यतः काम करती रहती हैं। पूँजीवादी समाज में जो उजरती गुलाम हड्डियाँ गलाकर भी महज इतना ही हासिल कर पाते हैं कि उत्पादन करने के लिए बस जीवित रह सके और उजरती गुलामों की नयी पीढ़ी पैदा कर सकें, जिनके पास आत्मीयता और सुकून के पल गुजारने के लिए न समय होता है न पैसा और जो मनुष्यता के सभी आत्मिक-सांस्कृतिक सम्पदा से अपरिचित होते हैं, उनके लिए प्रेम की आज़ादी का भला क्या अर्थ हो सकता है? पूँजी से पूँजी बटोरना ही जिन पूँजीपतियों का जीवन होता है और पूँजी स्वयं जिन पर जीन-लगाव कसकर सवारी करती रहती है, वे पूँजीपति प्यार करने के मिथ्याभास में जीने के अतिरिक्त भला क्या कर सकते हैं? जिस समाज में तमाम जनवादी अधिकारों और समानताओं के दावों के बावजूद स्त्रियाँ दोयम दर्जे की नागरिक हों, वहाँ भला सच्चे अर्थों में प्रेम कैसे सम्भव हो सकता है, क्योंकि यह तो सच्चे अर्थों में आज़ाद और समान नागरिकों के बीच ही सम्भव हो सकता है। और सबसे बुनियादी प्रश्न यह है कि जिस समाज में पण्य पूजा (कमोडिटी फ्रेटिसिज्म) सामाजिक-श्रम विभाजन से पैदा हुए अलगाव (एलियनेशन), 'रीइफ्रिकेशन', आत्म-निर्वासन और व्यक्तित्व के विघटन ने आम नागरिकों को मानवीय मूल्यों और मानवीय सारतत्त्व से बेगाना बना दिया है, उस समाज में प्रेम की आज़ादी क्या एक वस्तुगत यथार्थ हो सकता है? यूरोप के प्रबोधन-कालीन दार्शनिकों और बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों ने स्त्री-पुरुष समानता और व्यक्तिगत आज़ादी के उसूलों पर आधारित एकनिष्ठ या एकान्तिक प्रेम के जिस स्वरूप को और उसकी आज़ादी को उन्नत मानव जीवन के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया और जिसने सीमित हृद तक यूरोप के प्रारम्भिक बुर्जुआ जीवन में कुछ स्वस्थ-सकारात्मक मूल्य भी पैदा किये, हम उसके ऐतिहासिक महत्व को स्वीकार करते हैं। लेकिन बुर्जुआ सामाजिक ढाँचे और श्रम-विभाजन के जड़ीभूत होने के साथ ही उसका अग्रवर्ती विकास रुक गया, प्रबोधनकालीन आदर्श खलित हो गये और फिर बीसवीं शताब्दी के हासमान पूँजीवाद ने मनुष्यता को आत्मिक वंचना और मानवद्रोही संस्कृति के वर्चस्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिया। प्रबोधनकालीन आदर्शों के परचम

को फ़िर पूँजीवाद-विरोधी सर्वहारा क्रान्ति की विचारधारा ने ऊँचा उठाया और उसी ने पहली बार यह विचार प्रस्तुत किया कि प्रेम की पूर्ण स्वतंत्रता केवल उसी समय आम तौर पर स्थापित हो सकेगी जब पूँजीवादी उत्पादन, उससे उत्पन्न स्वामित्व-सम्बन्ध और आत्मिक मूल्य समाप्त हो जायेंगे। यह एक सुदूर भविष्य की बात है, लेकिन जो इतिहास की वर्तमान अवस्था को ही इसका अन्त नहीं मानते, सच्चे मानवीय प्रेम के बारे में आज उनका यही आदर्श हो सकता है और यही भविष्य-स्वप्न हो सकता है। लेख के इस हिस्से में हम इसी विषय पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे। प्रेम की अवधारणा की शाश्वतता और अलौकिकता के मिथक को खण्डित करने के लिए और इसकी वास्तविकता को समझने के लिए ज़रूरी है कि हम ऐतिहासिक-सामाजिक विवेचना के थोड़े विस्तार में जायें। इस प्रसंग से लेख के इस हिस्से में थोड़ी सी दार्शनिक जटिलता भी आ सकती है, लेकिन इस अपरिहार्य विवशता के लिए पाठक हमें क्षमा करेंगे।

बात हमने इस प्रसंग में शुरू की थी कि यदि प्रेम करने की आज़ादी की बात करते हुए हम केवल पुरातन मध्ययुगीन स्वेच्छाचारिता और रूढ़ियों-मूल्यों के विरुद्ध विद्रोह की ही बात करते हैं, तो यह मात्र एक बुर्जुआ जनवादी माँग होगी और इतिहास आज उस युग से काफ़ी दूर निकल आया है। आज भौतिक जीवन के साथ ही आत्मिक जीवन पर भी स्थापित पूँजी की मानवद्रोही वर्चस्ववादी सत्ता से मुक्ति के प्रश्न पर सोचे बिना मनुष्य की किसी भी प्रकार की आज़ादी की बात करना बेमानी है और इसमें प्रेम करने की आज़ादी भी शामिल है। (आगे हम इस बात की भी चर्चा करेंगे कि “प्रेम करने की आज़ादी” को बुर्जुआ अराजकतावादी अनैतिक मानस किस चश्मे से देखता है और इसका वास्तविक कम्युनिस्ट अर्थ क्या होता है)। यदि हम केवल प्रेम करने के किसी व्यक्ति की आज़ादी पर मध्ययुगीन रूढ़ियों-मूल्यों की बन्दिशों और उनके विरुद्ध विद्रोह की बात तक ही रुक जायेंगे तो यह बुर्जुआ प्रेम का आदर्शीकरण होगा। अतः हमें इससे आगे जाना होगा। इसके लिए ज़रूरी है कि हम प्रेम की अवधारणा को ही वृहत्तर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें। पश्चिम के जिन उन्नत बुर्जुआ समाजों में दो युवाओं के प्रेम करने या जीवन-साथी चुनने में रूढ़ियों-मूल्यों या बुजुर्गों का हस्तक्षेप न के बराबर रह गया है, क्या कारण है कि वहाँ भी विवाहेतर सम्बन्धों, बेवफ़ाई, बलात्कार, स्त्री-उत्पीड़न तथा नीरस घिसटते और टूटते वैवाहिक जीवन की घटनाएँ इतनी आम हो

चुकी हैं कि सामाजिक ताना-बाना ही टूटता-बिखरता प्रतीत होता है। समृद्धि और प्रेम करने की प्रतीयमान या औपचारिक आज़ादी के बावजूद अवसाद और तमाम प्रकार की मनोविकृतियों से पश्चिमी समाज इस कदर ग्रस्त क्यों है? कारण एकदम स्पष्ट है। दो मनुष्य किसी द्वीप पर रहकर प्यार नहीं करते। वे इसी समाज में प्रेम करते हैं और उनका प्रेम भौतिक जीवन स्थितियों और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश एवं मूल्यों से स्वतंत्र, अछूता, निरपेक्ष नहीं हो सकता।

एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्यों के बीच प्रेम कोई जैविक आवेग, ईश्वरीय वरदान या समाज-निरपेक्ष भावना नहीं होता। प्रेम की अवधारणा सामाजिक वर्गीय संरचना से स्वतंत्र, शाश्वत और विविक्त नहीं होती। जिस प्रकार वर्ग समाज में जेण्डर एक जैविक तथ्य से भी कहीं अधिक एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम भी एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है। यह एक सामाजिक-विचारधारात्मक-सांस्कृतिक अवधारणा है जो सामाजिक संरचना और आत्मिक मूल्यों में बदलाव के साथ बदलती रही है। प्रेम और प्रेम करने की आज़ादी के निहितार्थ की वर्ग-सापेक्षता और काल-सापेक्षता को समझने के लिए इस बात को समझना ज़रूरी है। इसके लिए हम स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम की अवधारणा की ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया का यहाँ संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'दर्शन की दरिद्रता' में लिखा है: 'मानव प्रकृति का सतत रूपान्तरण ही इतिहास है' ('द पावर्टी ऑफ़ फ़िलॉसोफी', इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1963, पृ- 147) मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसकी यह प्रकृति है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, प्रकृति के विरुद्ध आचरण करता है। जब वह ऐसा नहीं करता था तो पशुजगत का एक अंग था। फिर श्रम की विशिष्टता ने उसे मनुष्य बनाया (देखिए, फ्रेडरिक एंगेल्स: 'वानर से नर बनने में श्रम की भूमिका')। जैविक आवश्यकताओं से प्रेरित पाशविक सम्भोग से विच्छेद कर आगे बढ़ने की ज़मीन भी तभी तैयार हुई, जब पशुजगत से बाहर संक्रमण करके मनुष्य ने प्रकृति से पहला निर्णायक विच्छेद किया और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करना शुरू किया। अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह प्रकृति-प्रदत्त चीज़ों पर निर्भर रहने के बजाय काम करने लगा, यानी अपने श्रम से, प्राकृतिक चीज़ों से कुछ नयी चीज़ों का निर्माण करने लगा। यह

एक सामूहिक प्रक्रिया थी, यानी श्रम की सारवस्तु शुरू से ही सामाजिक थी। अपने उद्गम और मूल प्रकृति से ही मनुष्य का सारतत्व अलग-थलग व्यक्तित्वों पर आधारित अमूर्तन नहीं है। मानवीय अस्तित्व श्रम पर आधारित और ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया से गुजरने वाले सामाजिक सम्बन्धों के समुच्चय के अन्तर्गत, और इसके द्वारा, संघटित हुआ है। कहा जा सकता है कि मनुष्य का जीवन अपने स्वत्व और उसके लिए ज़रूरी भौतिक वस्तुओं को अर्जित करने और फिर उस स्थिति का अतिक्रमण करके आगे बढ़ने की एक सतत् प्रक्रिया है जो उसकी चेतना, भावनाओं और आत्मिक जगत को भी निरन्तर समृद्ध बनाती रहती है। सभ्यता के इतिहास में, इसी प्रक्रिया में भौतिक उत्पादन के लिए ज़रूरी साहचर्य और मानवीय पुनरुत्पादन के लिए ज़रूरी सम्भोग-क्रिया ने सामाजिक संरचना और परिवार संस्था के विविध विकासमान रूपों के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष की मानवीय चेतना में एक विशिष्ट आकर्षण की भावना को-एक विशिष्ट भावावेग को जन्म दिया जो सहस्त्राब्दियों से गुजरकर, आधुनिक, रोमानी, एकनिष्ठ (या एकान्तिक) यौन-प्रेम के रूप में विकसित हुआ।

माक्स और एंगेल्स अपनी पुस्तक 'जर्मन विचारधारा' में अत्यन्त तर्कसंगत ढंग से बताते हैं कि सभ्यता के विकास की तीन प्रारम्भिक स्थितियाँ और शर्तें रही हैं। पहली ऐतिहासिक शर्त और स्थिति रही है, भोजन, वस्त्र, आवास और अन्य ज़रूरतों की पूर्ति के साधनों का उत्पादन करना। दूसरी ऐतिहासिक शर्त और स्थिति यह रही है कि पहली आवश्यकता की पूर्ति (आवश्यकता-पूर्ति की क्रिया और उसके लिए अर्जित उपकरण) नयी आवश्यकताएँ पैदा कर देती हैं। ये दो शर्तें या स्थितियाँ मिलकर "पहला ऐतिहासिक कार्य" बन जाती हैं और इनके साथ एक तीसरी पूर्वशर्त-‘एक तीसरे किस्म का प्राकृतिक-सामाजिक सम्बन्ध’-जुड़ जाती है। यह तीसरी स्थिति या शर्त, जो ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में शुरू में ही प्रविष्ट हो जाती है, यह है कि मनुष्य जो प्रतिदिन अपने जीवन का पुनर्निर्माण करते हैं, वे अपनी जाति को बढ़ाने के लिए दूसरे मनुष्यों का भी निर्माण करते हैं: यानी स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्ध का, अभिभावक और बच्चों के बीच सम्बन्ध का, परिवार का निर्माण करते हैं। यह परिवार शुरू में तो एकमात्र सामाजिक सम्बन्ध था, पर नयी-नयी पैदा होने वाली आवश्यकताओं द्वारा नये सामाजिक सम्बन्धों को जन्म देने और बढ़ती आबादी के चलते नयी-नयी आवश्यकताओं के पैदा होने के बाद यह एक अधीनस्थ सामाजिक सम्बन्ध बनकर रह गया। माक्स ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये तीन ऐतिहासिक शर्तें

या स्थितियाँ तीन अलग-अलग अवस्थाओं के रूप में नहीं बल्कि सभ्यता के उषाकाल से ही सामाजिक गतिविधि के तीन पहलुओं के रूप में मौजूद रही हैं और इतिहास के वर्तमान दौर में भी इनकी यही भूमिका है। (विस्तार के लिए देखें, मार्क्स और एंगेल्स: 'जर्मन आइडियोलॉजी', पृ- 31 और पृ- 39-41, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1964)

मनुष्य का इतिहास एक ही साथ, प्राकृतिक और सामाजिक दोनों है। जो स्थितियाँ और सम्बन्ध इसे जन्म देते हैं, उनके मूल में दोहरा उत्पादन होता है: श्रम के द्वारा भौतिक वस्तुओं का उत्पादन और प्रजनन के द्वारा मानव जीवन का उत्पादन। मनुष्य प्रकृति के साथ प्राकृतिक और सामाजिक-दोनों प्रकार के बन्धनों से जुड़ा हुआ है। लेकिन मनुष्य की ऐतिहासिक प्रकृति का निर्धारण करने वाली शक्तियों की द्वैधता की धारणा को मार्क्स सिरे से खारिज करते हैं। सेक्सुअल शक्तियों और उत्पादक शक्तियों को वे एक-दूसरे के समकक्ष या समतुल्य नहीं मानते। प्रजनन या मानव जाति का पुनरुत्पादन ऐतिहासिक अस्तित्व की बुनियादी शर्त है लेकिन इतिहास मात्र मनुष्य का उद्भव और क्रम-विकास नहीं है। इतिहास की उत्पत्ति और विकास की कारक शक्ति उत्पादक शक्तियों के उपयोग, निर्माण और विकास में निहित है जो आम तौर पर मानव-सम्बन्धों को, और साथ ही, खास तौर पर, सेक्सुअल सम्बन्धों की मानवीय अन्तर्वस्तु और रूप को भी निर्धारित करते हैं। मानवीय स्वत्व शुरू से ही केवल प्राकृतिक नहीं, बल्कि सर्वोपरि तौर पर ऐतिहासिक रहा है। स्त्री और पुरुष के बीच के रिश्तों का विकास (उनके बीच प्रेम की अवधारणा का विकास, यौन क्रिया का पाशवेतर, मानवीय कलात्मक विकास और परिवार संस्था का विकास) उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों के विकास द्वारा ही निर्धारित और अनुकूलित होता है।

आदिम युगों के दौरान, जब मनुष्य अभी अपनी यात्रा में प्रकृति और पशुजगत से बहुत दूर नहीं निकल आया था, जब अभी निजी सम्पत्ति और उस पर आधारित असमानतापूर्ण सामाजिक सम्बन्धों का जन्म नहीं हुआ था, तब स्त्री-पुरुष के बीच के रिश्ते काफ़ी हद तक पाशविक जैविक आकर्षण और प्रजनन के दायरे में सीमित थे और उनमें शोषण या उत्पीड़न का कोई पहलू था ही नहीं। यानी जब सामाजिक श्रम-विभाजन का अस्तित्व नहीं था तब स्त्री-पुरुष के बीच एक ही श्रम-विभाजन था और वह था सेक्सुअल क्रिया में श्रम-विभाजन (मार्क्स-एंगेल्स: जर्मन आइडियोलॉजी, पूर्वोद्धृत, पृ- 42-43)।

इसमें विपरीत तत्वों के संघात और एकता के रूप में अन्तर्क्रिया का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त तो काम करता था, लेकिन दोनों में से किसी एक की भूमिका उत्पीड़क की और दूसरे की उत्पीड़ित की नहीं थी। सामाजिक श्रम-विभाजन और उसमें निहित सभी अन्तरविरोधों के विकास के साथ ही स्त्री-पुरुष के रिश्तों में भी परिवर्तन आया। यौन क्रिया और उससे जुड़े मनोभावों के सन्दर्भ में भी एक की स्थिति उत्पीड़क की और दूसरे की उत्पीड़ित की हो गयी। यह सामाजिक श्रम-विभाजन परिवार में श्रम के प्राकृतिक विभाजन और समाज के परस्पर-विरोधी पारिवारिक इकाइयों में विलगाव पर आधारित था जो साथ-साथ श्रम और उसके उत्पाद के, और इस रूप में सम्पत्ति के, परिमाणात्मक और गुणात्मक, असमान बँटवारे को जन्म देता था। परिवार में स्त्रियों और बच्चों की पुरुषों के बरक्स गुलामी जैसी स्थिति बन गयी। परिवार में यह गुलामी बेहद भोंड़े रूप में थी, लेकिन यही प्रच्छन्न गुलामी सम्पत्ति का पहले रूप का आधार थी। (विस्तार के लिए, मार्क्स और एंगेल्स: 'जर्मन आइडियोलॉजी', पूर्वोद्धृत, पृ- 44)।

निजी सम्पत्ति के अग्रगामी विकास ने ही पारिवारिक जीवन और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के रूपों के विकास का निर्धारण किया। निजी सम्पत्ति और श्रम-विभाजन ने परिवार को समुदाय के भीतर अलग-थलग कर दिया और इसे सामुदायिक यथार्थ के बजाय एक निजी यथार्थ बना दिया। एक पृथक्कृत घरेलू अर्थव्यवस्था का निर्धारण सीधे-सीधे निजी सम्पत्ति की गति ही करती है। यदि हम समकालीन बुर्जुआ समाज को भी देखें तो नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) और राज्य की मान्यता प्राप्त और पूर्वगृहीत आधारशिला इसमें भी परिवार ही है। चूँकि निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध ही वे बन्धन हैं जो आभासी या भ्रामक समुदाय और इसके सदस्यों को वस्तुओं के प्राकृतिक जगत से बाँधने का काम करते हैं, या यूँ कहें कि उन्हें इसके साथ परकीयकृत रूप में (इन एलियनेशन) जोड़ते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि विवाह "निश्चित तौर पर विशिष्ट निजी सम्पत्ति का एक रूप है" (मार्क्स: मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1844, पृ- 133, इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1964)।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' में फ्रेडरिक एंगेल्स ने इतिहास और नृतत्वशास्त्र की खोजों के आधार पर यह दर्शाया है कि मानव-विकास के तीन मुख्य युगों के अनुरूप विवाह के तीन मुख्य रूप मिलते हैं: जंगल युग में यूथ विवाह, बर्बर युग में युग्म विवाह और

सभ्यता के युग में एकनिष्ठ विवाह और उसके साथ जुड़ा हुआ व्यभिचार और वेश्यावृत्ति। बर्बर युग की उन्नत अवस्था में, युग्म परिवार तथा एकनिष्ठ विवाह के दौर में, दासियों पर पुरुषों का आधिपत्य और बहुपत्नी-प्रथा आम बात थी। नृतत्वशास्त्र और इतिहास की अधुनातन खोजें भी इसी बात को सिद्ध करती हैं कि अन्य संस्थाओं की ही भाँति मानव-विकास के साथ-साथ परिवार के स्वरूप में भी बदलाव आया और इसकी प्रमुख मंजिलें उत्पादक शक्तियों के विकास और मनुष्यों के बीच के सम्बन्धों में आये गुणात्मक परिवर्तनों से निर्धारित हुई। आदिम मनुष्यों के समय से सभ्य जगत तक की यात्रा के दौरान परिवार के स्वरूप में आये आधारभूत बदलाव के बारे में एंगेल्स की प्रमुख स्थापना यह है कि एकनिष्ठ परिवार की अन्तिम विजय सभ्यता की शुरुआत का एक लक्षण था और कि यह एकनिष्ठ परिवार पुरुष-श्रेष्ठता पर आधारित था जिसमें पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए निर्विवाद पितृत्व वाली सन्तान पैदा करना स्त्री के लिए ज़रूरी था। प्राचीन ग्रीक समाज के अध्ययन के आधार पर एंगेल्स ने दर्शाया कि स्त्री-पुरुष के बीच एकनिष्ठ सम्बन्ध वैयक्तिक यौन-प्रेम (सेक्स-लव) या स्त्री-पुरुष के बीच बराबरी के रिश्ते के रूप में नहीं बल्कि स्त्री की पुरुष-अधीनस्थता के रूप में, इतिहास के प्रथम वर्ग-विभाजन और वर्ग-शोषण एवं वर्ग-उत्पीड़न के उत्पन्न होने के साथ-साथ, स्थापित हुआ। एकनिष्ठ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध (मोनोगैमी) तब पैदा हुआ जब एक पुरुष के हाथों में पर्याप्त सम्पत्ति संकेन्द्रित हो गयी और यह चाहत पैदा हुई कि वह सम्पत्ति किसी दूसरे के बच्चों को न मिले। पर इसके लिए केवल स्त्री की एकनिष्ठता ही ज़रूरी थी। और ऐसा ही हुआ। शुरू से लेकर आज तक एकनिष्ठ सम्बन्ध केवल स्त्री के लिए अनिवार्य रहे हैं। पुरुष की यौन-स्वतंत्रता आद्यन्त अक्षत रही है। विवाहेतर सम्बन्ध या कई पुरुषों से यौन-सम्बन्ध स्त्रियों के लिए तो भयंकर सामाजिक-क़ानूनी सज़ा का हक़दार बनाने वाला अपराध रहा है, लेकिन पुरुष के लिए वह या तो सम्माननीय या सामाजिक मान्यताप्राप्त या ज्यादा से ज्यादा, एक मामूली, सहनीय नैतिक धब्बा रहा है। एंगेल्स लिखते हैं: “पुराने परम्परागत हैटेरिज्म को माल का वर्तमान पूँजीवादी उत्पादन जितना ही बदलता और अपने रंग में ढालता जाता है, उतना ही समाज पर उसका अधिक खराब असर पड़ता है। स्त्रियों में वेश्यावृत्ति केवल उन्हीं अभागिनों को पतन के गड्ढे में ढकेलती हैं जो उसके चंगुल में फँस जाती हैं, और इन स्त्रियों का भी उतना पतन नहीं होता जितना आम तौर पर समझा जाता है। परन्तु दूसरी

ओर, वेश्यावृत्ति सारे पुरुष संसार के चरित्र को बिगाड़ देती है और इस प्रकार दस में से नौ उदाहरणों में विवाह के पहले सगाई की लम्बी अवधि कार्यतः दाम्पत्य (से) बेवफ़ाई की ट्रेनिंग की अवधि बन जाती है।“ (एंगेल्स: परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, मार्क्स-एंगेल्स: संकलित रचनाएँ, खण्ड-3, भाग-2, पृ- 88, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978)।

अब सवाल यह उठता है कि यदि परिवार की उत्पत्ति और सभ्य जगत में उसके आधार के बारे में ये बातें सही हैं, तो समाजवादी संक्रमण के अन्तर्गत, जब उत्पादन के साधनों में निजी स्वामित्व का उन्मूलन हो जायेगा और कम्युनिज्म के अन्तर्गत, जब वर्ग-सम्बन्धों का ही विलोपन हो जायेगा, तो उन स्थितियों का परिवार या विवाह संस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इसके उत्तर के लिए और भावी समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के आम स्वरूप को जानने के लिए हमें एंगेल्स को फिर किंचित विस्तार से उद्धृत करना पड़ेगा: “अब हम एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप एकनिष्ठ विवाह का वर्तमान आर्थिक आधार उतने ही निश्चित रूप से मिट जायेगा, जितने निश्चित रूप से एकनिष्ठ विवाह के अनुपूरक का, वेश्यावृत्ति का आर्थिक आधार मिट जायेगा। ...-आने वाली सामाजिक क्रान्ति स्थायी दायाद्य (हेरिटेबल) धन-सम्पदा के अधिकतर भाग को-यानी उत्पादन के साधनों को-सामाजिक सम्पत्ति बना देगी और ऐसा करके सम्पत्ति की विरासत के बारे में इस सारी चिन्ता को अल्पतम कर देगी। पर एकनिष्ठ विवाह चूँकि आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुआ था, इसलिए क्या इन कारणों के मिट जाने के बाद वह भी मिट जायेगा?

“इस प्रश्न का यह उत्तर शायद ग़लत नहीं होगा: मिटना तो दूर, एकनिष्ठ विवाह तब जाकर ही पूर्णता प्राप्त करने की ओर बढ़ेगा। कारण कि उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व में रूपान्तरण के फ़लस्वरूप उजरती श्रम, सर्वहारा वर्ग भी मिट जायेगा और उसके साथ-साथ यह आवश्यकता भी जाती रहेगी कि एक निश्चित संख्या में-जिस संख्या को हिसाब लगाकर बताया जा सकता है-स्त्रियाँ पैसे लेकर अपनी देह को पुरुषों के हाथों में सौंप दें। तब वेश्यावृत्ति का अन्त हो जायेगा और एकनिष्ठ विवाह-प्रथा मिटने के बजाय, पहली बार पुरुषों के लिए भी वास्तविकता बन जायेगी।” (एंगेल्स: पूर्वोद्धृत, पृ- 88-89)।

लेकिन फिर एंगेल्स यह सवाल उठाते हैं कि जब उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व हो जाने के बाद वैयक्तिक परिवार समाज की आर्थिक इकाई नहीं रह जायेगा, जब घर का निजी प्रबन्ध, बच्चों का लालन-पालन और शिक्षा एक सार्वजनिक मामला हो जायेगा, जब किसी लड़की को मनचाहे पुरुष को प्यार करने से रोकने वाले आर्थिक, सामाजिक और नैतिक कारणों का भौतिक आधार ही समाप्त हो जायेगा, तब क्या वेश्यावृत्ति के साथ-साथ एकनिष्ठ विवाह भी (क्योंकि ये दोनों विपरीत होते हुए भी एक ही सामाजिक व्यवस्था के दो सिरे हैं) समाप्त नहीं हो जायेगा और तब क्या पूर्णतः अनियंत्रित, स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों का घटाटोप नहीं छा जायेगा? एंगेल्स इस भ्रान्ति को सिरे से खारिज करते हुए इतिहास में आविर्भूत उस नये तत्व की महत्ता को रेखांकित करते हैं जिसे व्यक्तिगत यौन-प्रेम या सामान्य तौर पर रोमानी (रोमैण्टिक) प्यार कहा जाता है। यह सभ्यता का युग शुरू होते समय, यानी एकनिष्ठ विवाह के विकसित होने के समय ज्यादा से ज्यादा केवल बीज रूप में ही मौजूद था। इसका वास्तविक अर्थों में विकास पूँजीवाद के आगमन के बाद ही हुआ। तमाम आर्थिक-सामाजिक बाध्यताओं की समाप्ति के बाद, पूरी तरह से पारस्परिक आकर्षण, भावनात्मक (और भावना विचारों से विच्छिन्न कोई चीज़ नहीं होती) एकता, समानता और स्वतंत्र चाहत पर आधारित व्यक्तिगत यौन-प्रेम या रोमानी प्रेम ही स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का आधार होगा। यह व्यक्तिगत यौन-प्रेम चूँकि प्रकृति से ही एकान्तिक होता है, इसलिए पूँजीवाद की समाप्ति के बाद ही सच्चे अर्थों में एकनिष्ठ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे, या कहें कि केवल तभी जाकर, स्त्री-पुरुष दोनों के लिए, सच्चे अर्थों में प्रेम करने की आज़ादी कायम हो सकेगी। आज के प्रेम-सम्बन्ध या एकनिष्ठ विवाह में जो एकान्तिकता होती है, वह पूर्ण रूप में केवल स्त्री के लिए ही होती है, जबकि पुरुष इससे स्वतंत्र होता है।

इस बात को भली-भाँति समझने के लिए थोड़ा और विस्तार में जाने की ज़रूरत है। आधुनिक काल का यौन प्रेम या रोमानी प्रेम या 'पैशन लव' प्राचीन काल की सरल यौनेच्छा या 'ईरोस' (eros) से बहुत अलग चीज़ है। प्राचीनकालीन 'ईरोस' में औरत की चाहत का कोई विशेष महत्व नहीं होता था, जबकि यौन-प्रेम दोतरफ़ा होता है, यानी यह मानकर चलता है कि प्रेम करने पर प्रेम मिलता भी है। यह एक उत्कट भाव होता है जिसमें प्रेमी-प्रेमिका को लगता है कि वे एक-दूसरे के बिना जी नहीं सकते। इसमें सम्भोग को

केवल क़ानूनी नहीं बल्कि नैतिक मानकों से देखा जाता है और पारस्परिक प्रेम का परिणाम होने पर ही उसे स्वीकार्य माना जाता है। प्राचीन काल में प्रेम की उत्कटता या तो स्वतंत्र नागरिकों के अधिकृत समाज से बाहर दासों के बीच देखने को मिलती थी या फिर विवाहेतर यौन-व्यापार में, और वह भी अधिकृत समाज से बाहर समझी जाने वाली स्त्रियों-यानी हैटेराओं के साथ प्रेम में देखने को मिलती थी। यानी प्राचीन समाज के स्वतंत्र नागरिकों में यदि सचमुच प्रेम होता भी था तो केवल विवाह के बन्धन तोड़कर, व्यभिचार के रूप में। पति-पत्नी के बीच जो थोड़ा-बहुत प्रेम देखने में आता भी था, तो वह मनोगत प्रवृत्ति नहीं बल्कि वस्तुगत कर्तव्य था। वह विवाह का कारण नहीं बल्कि उसका पूरक था। विवाह माता-पिता की मर्जी और बड़े-बुजुर्गों की स्वीकृति से ही होते थे। व्यक्तिगत सौन्दर्य, अन्तरंग साहचर्य, समान रुचि आदि से उस समय भी स्त्री-पुरुष में परस्पर सम्भोग की इच्छा उत्पन्न होती थी, पर उनके लिए इस बात का कोई मतलब नहीं होता था कि वे किसके साथ यह अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

मध्ययुग में भी स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम और विवाह के बारे में यही स्थिति बनी रही। सामन्ती उत्पादन-सम्बन्ध के अनुरूप विवाह एक ऐसा सामाजिक सम्बन्ध था जिसमें लड़की केवल भोग्या ही हो सकती थी और विवाह-सूत्र में बँधने वाले जोड़े के स्वतंत्र निर्णय का कोई मतलब नहीं था। पुरुष के लिए पत्नी वंश चलाने का निमित्त-मात्र थी और काम-तृप्ति के लिए वह बिना किसी प्रेम के दासी या वेश्या के पास जा सकता था। मध्यकाल में यदि आज के यौन-प्रेम का प्रारम्भिक रूप कहीं दीखता भी है तो वह विवाह-सम्बन्ध के विरुद्ध विद्रोह के रूप में, नाइटों के परकीया प्रेम-सम्बन्धों या विवाहेतर प्रेम-व्यापार में दीखता है। आम तौर पर तब विवाह नाइट या सामन्त और राजा या राजकुमार के लिए एक राजनीतिक मामला होता था जिसमें निजी इच्छा या आकांक्षा के बजाय सामन्तकुल या राजकुल के हित निर्णायक हुआ करते थे। यही बात मध्ययुग के नागरिकों के लिए भी लागू होती थी। शिल्प-संघों के अधिकार-पत्र और विशेष शर्तें किसी नागरिक को दूसरे शिल्प-संघों से, अपने ही संघ के दूसरे सदस्यों से और अपने मज़दूर कारीगरों और शार्गिदों से क़ानूनी तौर पर अलग रखने तथा उसके विशेषाधिकारों की हिफ़ाजत के लिए जो बनावटी सीमाएँ बनाती थीं, उसी संकीर्ण दायरे के भीतर ही उस नागरिक का विवाह होता था और वह भी व्यक्तिगत इच्छा से नहीं बल्कि पारिवारिक हित से तय होता था।

प्रेम और विवाह के ये रूप विश्व इतिहास के रंगमंच पर पूँजीवाद के विजय-अभियान के प्रारम्भ तक बने रहे। विवाह का प्राचीन और मध्यकालीन रूप पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के लिए भी सर्वथा उपयुक्त था, लेकिन विडम्बना यह थी कि सामन्ती विशेषाधिकारों, पुराने परम्परागत सम्बन्धों, रीति-रिवाजों और ऐतिहासिक अधिकारों की जगह क्रय-विक्रय और “स्वतंत्र” करार को स्थापित किये बिना कच्चे माल, श्रम शक्ति और वर्कशोपों के उत्पाद सहित हर चीज़ को बिकाऊ माल बनाना सम्भव ही नहीं था। और यह “स्वतंत्र” करार “स्वतंत्र” और “समान” लोगों के बीच ही सम्भव था। पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों की वैचारिक-सांस्कृतिक पूर्वपीठिका तैयार करते हुए यूरोप के पुनर्जागरणकालीन महामानवों ने, लूथर और काल्विन के धर्म-सुधार आन्दोलन ने और प्रबोधनकालीन दार्शनिकों ने मध्ययुगीन निरंकुशता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए जनमानस को तैयार करते हुए जो काम किया, वह एक महान प्रगतिशील ऐतिहासिक काम था, पर वस्तुगत तौर पर वह बुर्जुआ वर्ग के हितों की ही विचारधारात्मक अभिव्यक्ति था। धर्म-सुधार आन्दोलन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि हर व्यक्ति केवल तभी अपने कार्यों के लिए पूर्णतः ज़िम्मेदार माना जायेगा जब वह पूरी आज्ञादी के साथ काम करे; और हर आदमी का नैतिक कर्तव्य है कि वह अनैतिक कार्य करने के हर दबाव का विरोध करे। पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के लिए ज़रूरी “स्वतंत्र” व्यक्तियों के बीच “स्वतंत्र” करार की स्थिति बनाने में यह नैतिक-सामाजिक नियम सहायक था, पर एक आम नियम के तौर पर इसका चलन में आना जाहिरा तौर पर विवाह की पुरानी संस्था पर भी चोट पहुँचाने वाला था। ठीक इसी प्रकार पुनर्जागरणकाल के महानायकों ने मानवतावाद के सिद्धान्त-प्रतिपादन द्वारा जब सामन्ती विशेषाधिकारों की अलौकिक स्वीकृति पर चोट की तो यह विवाह की अलौकिक स्वीकृति पर भी एक चोट बन गयी। विवाह के पीछे नियति नहीं, बल्कि “स्वतंत्र” मनुष्यों की “स्वतंत्र” पारस्परिक सहमति होती है, इस तर्क की स्वीकार्यता के बाद आधुनिक युग के यौन-प्रेम के मनोभाव का जन्म होना ही था। इस तरह, हालाँकि पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली का मध्ययुगीन विवाह-प्रथा से कोई बैर-भाव नहीं था, लेकिन पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की स्थापना के लिए बुर्जुआ वर्ग की राजनीतिक विजय तथा उसके लिए बुर्जुआ मानवतावादी एवं जनवादी विचारों का जनमानस पर प्रभावी होना ज़रूरी था और इस प्रक्रिया की अनिवार्य तार्किक परिणति थी, तमाम

सामाजिक संस्थाओं के साथ ही मध्यकालीन विवाह और परिवार संस्था में आमूल परिवर्तन। पुनर्जागरणकाल के दार्शनिक जब इस काम को कर रहे थे तो वे बुर्जुआ वर्ग और पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली के सचेतन हित-साधन का काम नहीं कर रहे थे। उनके महान आदर्श पहले से ही व्यवस्थित हो चुके बुर्जुआ समाज की परिस्थितियों में नहीं, बल्कि “आम क्रान्ति के बीच” विकसित हुए थे। यह उनकी इच्छा से स्वतंत्र था कि उन आदर्शों का मूर्त रूप बुर्जुआ सामाजिक ढाँचे के रूप में ही सामने आना था। उन्हें मानवता को कुछ मध्ययुगीन बुराइयों से छुटकारा दिलाना था और कुछ ऐसे आदर्शों की अनश्वर मशाल जलानी थी, जिन्हें पूँजीवादी व्यवस्था के अन्त तक मानव जाति अपना प्रेरणा-स्रोत मानकर चलेगी। पुनर्जागरण-काल के दौरान सामाजिक सम्बन्ध अविराम रूप से गतिशील और परिवर्तनशील थे और अभी वे व्यक्तिगत पहल, प्रतिभा और योग्यताओं के विकास को काफ़ी हद तक रोकने वाली ऐसी शक्ति नहीं बने थे, जैसा कि वे बुर्जुआ समाज में बने। इसी के चलते पुनर्जागरण के नायकों के बारे में एंगेल्स ने लिखा है: “बुर्जुआ वर्ग के आधुनिक शासन के संस्थापक स्वयं बुर्जुआ परिसीमाओं से सर्वथा मुक्त थे” और यह भी कि, “उस युग के नायक अभी तक श्रम-विभाजन की दासता से बँधे नहीं थे, जिसके एकांगीपन पैदा करने वाले, संकुचनकारी प्रभाव हम उनके उत्तरवर्तियों में पाते हैं” (फ्रेडरिक एंगेल्स: ‘डायलेक्टिक्स ऑफ़ नेचर’, पृ- 2-3, इण्टरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1963)। यही वह विशिष्टता थी जिसके चलते पुनर्जागरणकाल के मानवतावाद, व्यक्तिवाद और लौकिकतावाद के युगान्तरकारी विचारों ने जनजीवन पर उतना गहरा प्रभाव छोड़ा, जितना पहले शायद कभी किसी क्रान्ति द्वारा प्रसूत विचारों ने नहीं छोड़ा था। इन विचारों ने पहली बार स्त्री को सम्भोगनीय और शिशुप्रसवा जीव से इतर, भावनाओं से युक्त स्वतंत्र अस्मिता वाली नागरिक मानने का आधार तैयार किया और आधुनिक यौन-प्रेम, रोमानी प्रेम या भावावेगी प्रेम (पैशल लव) की अवधारणा पैदा हुई। सौन्दर्य, काम-भावना (पाशविक आवेग से भिन्न सौन्दर्याकर्षण और साहचर्य-प्रेरित ऐन्द्रिक आकर्षण), ऐन्द्रिकता आदि की नयी अवधारणाएँ भी इसी आधार पर पैदा हुईं। इनके ऐतिहासिक साक्ष्य हम पुनर्जागरणकालीन चित्रकला, महाकाव्यों और नाटकों में आसानी से पा सकते हैं।

महान फ्रांसीसी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की पूर्वपीठिका तैयार करने वाले

प्रबोधनकाल (एज ऑफ़ एनलाइटनेमेण्ट) दार्शनिकों के बारे में भी काफ़ी हद तक वही बातें कही जा सकती हैं, जो पुनर्जागरण के नायकों की क्रान्तिकारी विशिष्टता और उसके वस्तुगत कारणों के बारे में ऊपर कही गयी हैं। प्रबोधन सामाजिक-राजनीतिक-दार्शनिक-कलात्मक चिन्तन के क्षेत्र में एक आन्दोलन-माल नहीं था बल्कि फ्रांसीसी क्रान्ति की पूर्वबेला में सामन्तवाद-निरंकुशतावाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए उठ खड़े हो रहे, अग्रगामी बुर्जुआ वर्ग के हितों की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति था। स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के जनवादी आदर्शों और तर्कणा को निर्णय की कसौटी बनाने के विचार ने व्यापक जनमानस को प्रभावित किया तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर और स्त्री अधिकारों पर भी लाजिमी तौर पर इसका प्रभाव पड़ना ही था। पहली बार प्रेम के अधिकार को और विवाह के मामले में जोड़े के स्वतंत्र निर्णय के अधिकार को इस हद तक सामाजिक मान्यता मिली कि चर्च को भी इसे अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ा।

लेकिन बुर्जुआ वर्ग की विजय के बाद, इन सभी आदर्शों का एक प्रहसनात्मक व्यंग्य-चित्र सामने आया। समय ने सिद्ध किया कि प्रबोधनकालीन विचार बुर्जुआ जीवन के यथार्थ के एक आदर्शकृत अमूर्तन के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। स्वतंत्रता का व्यावहारिक रूप शोषण की स्वतंत्रता और श्रमशक्ति बेचने की स्वतंत्रता के रूप में तथा छोटे मालिकों और किसानों की सम्पत्ति से “स्वतंत्रता” के रूप में सामने आया। शाश्वत न्याय ने बुर्जुआ न्याय में मूर्त रूप धारण किया। समानता क़ानून की दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति की बुर्जुआ समानता में परिणत हो गयी। बुर्जुआ सम्पत्ति को मनुष्य का मौलिक अधिकार घोषित कर दिया गया। एंगेल्स के शब्दों में, “जब फ्रांसीसी क्रान्ति ने इस तर्कबुद्धिसंगत समाज तथा इस तर्कबुद्धिसंगत राज्य को मूर्त रूप दिया, तो नयी संस्थाएँ पूर्ववर्ती व्यवस्थाओं की तुलना में अपनी सारी तर्कबुद्धिसंगतता के बावजूद पूर्ण तर्कबुद्धिसंगत कदापि नहीं सिद्ध हुई।” लोभ और लाभ की बुनियाद पर कायम इस नये समाज में, स्त्रियों की स्थिति में आये बदलाव उसे पूर्ण स्वतंत्र नागरिक कर्तई नहीं बना पाये। वह निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम और दोयम दर्जे की नागरिक बन गयी। घरेलू गुलामी के बन्धन रूप बदलकर बने रहे। ऐसे में व्यक्तिगत और यौन-प्रेम का प्रबोधनकालीन आदर्श मूर्त हो ही नहीं सकता था, क्योंकि वह स्त्रियों की समान सामाजिक हैसियत और निर्णय लेने की वास्तविक स्वतंत्रता के बिना सम्भव नहीं था। फ्रेडरिक

एंगेल्स लिखते हैं: “पहले सामन्ती दुराचार दिन-दहाड़े होता था, अब वह एकदम समाप्त तो नहीं हो गया था, पर कम से कम पृष्ठभूमि में ज़रूर चला गया था। उसके स्थान पर बुर्जुआ अनाचार, जो इसके पहले पर्दे के पीछे हुआ करता था, अब प्रचुर रूप में बढ़ने लगा था। व्यापार अधिकाधिक धोखाधड़ी बनता गया। क्रान्तिकारी आदर्श-सूत्र के “बंधुत्व” ने होड़ के संघर्ष की ठगी तथा प्रतिस्पर्धा में मूर्त रूप प्राप्त किया। बल तथा उत्पीड़न का स्थान भ्रष्टाचार ने ले लिया। सामाजिक सत्ता का उत्तोलक तलवार के स्थान पर सोना बन गया। नववधु के साथ पहली रात सोने का अधिकार सामन्ती प्रभुओं से पूँजीवादी कारखानेदारों के पास पहुँच गया। वेश्यावृत्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी, जो पहले कभी सुनी तक नहीं गयी थी। स्वयं विवाह-प्रथा पहले की तरह अब भी वेश्यावृत्ति का क़ानूनी मान्यता प्राप्त रूप तथा उसकी सरकारी आड़ बनी हुई थी, और इसके अलावा व्यापक परस्त्रीगमन उसके अनुपूरक का काम कर रहा था।” (एंगेल्स: ‘ड्यूहरिंग मत-खण्डन’, मार्क्स-एंगेल्स: ‘साहित्य और कला’ में उद्धृत, पृ- 316-17, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981)

पूँजीवादी विचारों के अनुसार, विवाह भी अन्य क़ानूनी क़रारों जैसा एक क़रार है और इस मायने में सबसे महत्वपूर्ण क़रार है कि उसके लिए दो व्यक्तियों के तन और मन का जीवन भर के लिए (जब तक क़रार की शर्त न टूटे) फ़ैसला कर दिया जाता है। अतः सभी क़रारों की तरह, इसमें भी दो युवा व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपने आप का, अपने शरीरों का उपयोग करने का निर्णय लेने का अधिकार मिलना चाहिए। यह वह युग था, जब पूरी दुनिया के बाज़ार पर कब्ज़ा करने और पूँजी-संचय की आकांक्षा देशों की चौहद्दियों के अतिक्रमण के साथ ही सभी पुराने सामाजिक बन्धनों और परम्परागत विचारों को ध्वस्त कर रही थी। इसी क्रान्तिकारी युग में व्यक्तिगत यौन-प्रेम की नयी क्रान्तिकारी अवधारणा का विकास हुआ जो माल-उत्पादन की प्रणाली के स्थापित होने के बाद, सामाजिक जीवन में मूर्त रूप तो नहीं ले पायी, पर व्यक्तिगत यौन-प्रेम की यह भावना और आकांक्षा अपने आप में एक यथार्थ बन चुकी थी जिसने वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तकों को यह दिशा दी कि माल-उत्पादन की प्रणाली को समाप्त करके, स्त्री-पुरुष के बीच सच्चे एकनिष्ठ यौन-प्रेम को, इसकी राह में आड़े आने वाली आर्थिक बाध्यताओं और उन बाध्यताओं को सर्वाधिक मूर्त रूप में अभिव्यक्त करने वाली बुर्जुआ पारिवारिक संरचना को नष्ट करके, मानव-समाज की एक आम सच्चाई बनाया

जा सकता है। पूँजीवाद ने कम से कम प्रेम विवाह के अधिकार (और प्रेम टूटने पर अलग होने के अधिकार) को मान्यता देने का एक प्रगतिशील काम किया; जिसे एक वास्तविकता बनाने का काम निजी सम्पत्ति पर आधारित सामाजिक सम्बन्धों को समाप्त करने वाली अग्रवर्ती सामाजिक क्रान्ति का एजेण्डा बन गया। इस मायने में मार्क्सवाद ने पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति के स्थगित एजेण्डे को ही आगे बढ़ाया और स्पष्ट किया कि पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के उन्मूलन के साथ ही विवाह के पीछे पारस्परिक आकर्षण के अतिरिक्त कोई और कारण नहीं रह जायेगा और चूँकि यौन-प्रेम अपनी प्रकृति से ही एकान्तिक होता है, इसलिए उस स्थिति में यौन-प्रेम पर आधारित विवाह सच्चे मायने में एकनिष्ठ हुआ करेंगे। मार्क्स और एंगेल्स ने विवाह संस्था की अठारहवीं शताब्दी के विचारकों-लेखकों और फ्रांसीसी क्रान्ति द्वारा प्रस्तुत आलोचना को ही आगे बढ़ाया तथा तर्कसंगत बनाकर तार्किक निष्पत्ति तक पहुँचाया। उन्होंने स्वीकार किया है कि इन विचारकों ने और फ्रांसीसी क्रान्ति ने विवाह संस्था की बुनियाद को हिला दिया था (मार्क्स-एंगेल्स: 'जर्मन आइडियोलॉजी, पूर्वोद्धृत, पृ-192-193)। उनके विचार से, पूँजीवाद-विरोधी क्रान्ति का मूल लक्ष्य उन तमाम जंजीरों को तोड़ डालना है जो मनुष्य के मानवीय होने की राह में बाधा हैं। प्यार अपनी सार्वभौमिकता में प्यार के रूप में अभिव्यक्त हो, उसके लिए बुर्जुआ विवाह और बुर्जुआ परिवार के उन्मूलन को वे ज़रूरी मानते हैं। केवल तभी मनुष्य के प्राकृतिक और सामाजिक सारतत्व का 'आब्जेक्टिफ़िकेशन' हो सकेगा।

एक बुर्जुआ सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर यह सम्भव ही नहीं है, इस बात को अहसास के और अधिक गहरे धरातल पर जाकर समझने के लिए सामाजिक श्रम विभाजन से पैदा होने वाले परकीयरकण या अलगाव (एलियनेशन) की मार्क्सवादी अवधारणा पर भी थोड़ी चर्चा ज़रूरी है।

मार्क्सिय अवधारणा के रूप में परकीयकरण या अलगाव एक ऐसी क्रिया (और साथ ही अवस्था) है जिसमें मनुष्य (एक व्यक्ति, समूह, संस्था या समाज) (1) अपने स्वयं कार्यकलाप के परिणाम या श्रम के उत्पाद से (और स्वयं अपने कार्यकलाप या श्रम से), (2) उस प्रकृति से, जिसमें वह रहता है, (3) दूसरे मनुष्यों से और इन सबके परिणामस्वरूप (4) स्वयं अपने आप से (ऐतिहासिक रूप से सृजित अपनी खुद की मानवीय सम्भावनाओं और मानवीय सारतत्व से) से बेगाना हो जाता है। यानी परकीयकरण या अलगाव

मनुष्य के व्यावहारिक कार्यकलाप की उपज (श्रम की उपज, मुद्रा, सामाजिक सम्बन्ध आदि) और सैद्धान्तिक भावनात्मक कार्यकलाप की उपज-इन दोनों को, और साथ ही मनुष्य के गुणों और क्षमताओं को, ऐसी चीज़ों में बदल देने की प्रक्रिया और परिणाम है, जो लोगों से स्वतंत्र हो और जिसका उनपर प्रभुत्व हो। दूसरे, यह घटनाओं, प्रक्रियाओं और सम्बन्धों का उनके निज रूप से भिन्न किसी वस्तु में रूपान्तरण है तथा, जीवन में लोगों के वास्तविक सम्बन्धों का, उनकी चेतना में विकृतिकरण है। आगे चलकर, कुछ मार्क्सवादी विद्वानों ने अलगाव के विभिन्न रूपों का प्रवर्गीकरण करने की भी कोशिश की। जैसे, एडम शैफ़ (Adam Schaff) ने इसके दो बुनियादी रूपों की बात की है: वस्तुगत अलगाव (या सामान्य अलगाव) और मनोगत अलगाव। शाक्तेल (Schachtel) ने इसकी चार श्रेणियाँ बनाई हैं: मनुष्यों का प्रकृति से अलगाव, अपने साथ के मनुष्यों से अलगाव, अपने हाथों और दिमाग के कामों से अलगाव और स्वयं से अलगाव। सीमैन ने इसकी पाँच श्रेणियाँ निर्धारित की हैं: अधिकारहीनता, सार्थकताहीनता, सामाजिक पार्थक्य, प्रतिमानहीनता (नॉर्मलेसनेस) और आत्मविच्छिन्नता (सेल्फ़-एस्ट्रेंजमेण्ट) (देखिए: 'ए डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट', पृ- 15, माया ब्लैकवेल वर्ल्डन्यू रेफ़रेंस, इण्डियन रीप्रिण्ट, नई दिल्ली, 2000)। ये सख़्त या जड़ीभूत प्रवर्गीकरण इन अर्थों में ठीक नहीं हैं क्योंकि ये एक ही सामाजिक परिघटना के विविध वस्तुगत और मनोगत आयाम या पहलू हैं।

मार्क्स के विचार से अलगाव समाज-विकास की एक निश्चित मंजिल के अन्तरविरोधों को व्यक्त करता है। वह श्रम-विभाजन से जन्मा और निजी स्वामित्व से जुड़ा हुआ है। ऐसी अवस्थाओं में सामाजिक सम्बन्ध स्वयंस्फूर्त ढंग से बनते हैं और लोगों के नियंत्रण से बाहर हो जाते हैं जबकि कार्यकलाप के फ़लों और उपजों का व्यक्तियों और सामाजिक समूहों से अलगाव हो जाता है और वे या तो दूसरे लोगों द्वारा या किसी अलौकिक शक्ति द्वारा थोपी गयी वस्तु के रूप में प्रकट होते हैं। अलगाव-विषयक मार्क्स की अवधारणा उनके द्वारा "विच्छिन्न श्रम" या "वियोजित श्रम" (इस्ट्रेंज्ड लेबर) की विवेचना में स्पष्ट होकर सामने आती है। मार्क्स ने स्पष्ट किया कि श्रम की किसी वस्तु में समाविष्ट ऐसा श्रम, जो मूर्त हो गया है, श्रम का वस्तुकरण (आब्जेक्टिफ़िकेशन) है और निजी सम्पत्ति द्वारा शासित समाज में श्रम का वस्तुकरण अनिवार्यतः श्रमिक को जीवन के आनन्दों से वंचित करता है, उसे अपने श्रम के वस्तु

का दास बना देता है। उसके श्रम का उत्पाद उसके लिए एक बेगाना उत्पाद बन जाता है और वस्तुकृत श्रम परकीयकृत या अलगाव-भूत (एलियनेटेड) श्रम बन जाता है। श्रम-प्रक्रिया अपनी सृजनात्मक अन्तर्वस्तु को खो देती है और श्रमिक के लिए उसमें कोई आकर्षण नहीं रह जाता। श्रमिक के पास इसके लिए कोई प्रेरणा नहीं होती कि वह सौन्दर्य के नियमों और सार्वजनिक आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन करे। अपनी शारीरिक-मानसिक शक्ति के स्वेच्छया विकास से वंचित माल पशुवत् आदिम आवश्यकताओं के साथ जीता हुआ वह पशु-सदृश हो जाता है, मनुष्य के सन्निहित गुणों से रिक्त हो जाता है तथा अमूर्तन, स्वप्न और कल्पना की शक्ति को, प्यार की मानवीय सम्भावनाओं को खो देता है। वह स्वयं अपनी बेड़ियाँ बनाता है। वह अपना रह ही नहीं जाता बल्कि पूँजी के स्वामी का हो जाता है। यानी अलगाव मनुष्य को मनुष्य से और मानवीय गुणों-सम्भावनाओं से अलग कर देता है। इस रूप में हर अलगाव, अनिवार्यतः आत्मअलगाव भी होता है। (इस विस्तृत विवेचना के लिए देखें, मार्क्स: 'इकोनॉमिक एण्ड फ़िलॉसोफ़िक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1844', फ़र्स्ट मैनुस्क्रिप्ट, 'इस्ट्रेज्ड लेबर', पृ- 66-80, नेशनल बुक एजेंसी, कलकत्ता, 1993)।

अलगाव के बुनियादी वस्तुगत कारणों की विवेचना, उसके रूपों के उद्घाटन और रैडिकल आलोचना का समाहार मार्क्स इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि रैडिकल क्रान्ति के द्वारा पूँजीवादी श्रम-विभाजन को और निजी सम्पत्ति को समाप्त करके ही मनुष्य के विघटित व्यक्तित्व को पुनर्संगठित किया जा सकता है, उसके आत्मनिर्वासन और आत्म-अलगाव की स्थिति का अतिक्रमण किया जा सकता है और स्वयं तक उसकी वापसी को, मनुष्य द्वारा मनुष्य के लिए मानव-प्रकृति की बहाली को सम्भव बनाया जा सकता है। पूँजीवादी सामाजिक श्रम-विभाजन को समाप्त करके ही वि-अलगाव या वि-परकीयकरण (डी-एलियनेशन) को सम्भव बनाया जा सकता है और व्यक्तिगत एकान्तिक यौन-प्रेम या रोमानी प्रेम या भावावेगी प्रेम (पैशन लव) का जो आदर्श प्रबोधन-काल के विचारकों और यूटोपियाई समाजवादियों ने प्रस्तुत किया था, उसे एक यथार्थ में रूपान्तरित किया जा सकता है।

यहाँ पर एक भ्रान्ति का निवारण भी ज़रूरी है। मार्क्स जब मानव-प्रकृति या मानवीय सारतत्व की फ़िर से बहाली की और मनुष्य की मनुष्य तक वापसी की बात करते हैं तो उनका मतलब न तो मानव-प्रकृति या मानवीय सारतत्व

को जड़ या अपरिवर्तनीय मानने से है, न ही अनैतिहासिक ढंग से वे यह मानते हैं कि ऐसी कोई अचल संकल्पना या चीज़ अतीत में यथार्थ रूप में मौजूद थी, फिर खो गयी और अब उसे फिर से हासिल करना है। अलगाव को मार्क्सवाद किसी तथ्यात्मक या आदर्श ('नॉर्मेटिव') मानव-प्रकृति से नहीं बल्कि ऐतिहासिक रूप से सृजित मानवीय सम्भावनाओं से अलगाव के रूप में, विशेषकर स्वतंत्रता और सर्जनात्मकता की मानवीय क्षमता से अलगाव के रूप में देखता-समझता है। आत्म-अलगाव की अवधारणा मनुष्य की किसी जड़, अनैतिहासिक अवधारणा प्रस्तुत करने के बजाय मनुष्य के सतत्-पुनर्नवीकरण और विकास की प्रक्रिया को संवेग प्रदान करने का आह्वान करती है। जैसा कि मिलान कांग्रगा कहते हैं, आत्म-अलगाव का शिकार होने का मतलब है अपने कार्य से अलगाव, आत्म-सक्रियता से, आत्म-उत्पादन से, आत्म-सर्जना से अलगाव, मानव-व्यवहार और एक मानवीय उत्पाद के रूप में इतिहास से अलगाव ('एक डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट' में उद्धृत, पूर्वोद्धृत, पृ- 14)। यानी एक मनुष्य के अलगावग्रस्त या आत्म-अलगावग्रस्त होने का मतलब है कि उसके सतत् मनुष्य होने की क्रिया रुक गयी है और बनी-बनायी दुनिया में जीते हुए वह व्यावहारिक-आलोचनात्मक ढंग से, क्रान्तिकारी ढंग से सक्रिय नहीं है। यानी जैसा कि ए.पी. ओगुत्सोव (सोवियत इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ फ़िलॉसॉफी) कहते हैं, अलगाव एक दार्शनिक और समाजशास्त्रीय प्रवर्ग है जो मनुष्य के कार्यकलापों और उसके परिणामों के, ऐसी स्वतंत्र शक्तियों में वस्तुगत रूपान्तरण को अभिव्यक्त करता है, जो उस पर आधिपत्य कायम कर लेती हैं और उसके प्रतिकूल होती हैं। साथ ही, यह सामाजिक प्रक्रिया की एक सक्रिय मनोगत शक्ति से एक वस्तु में मनुष्य के रूपान्तरण की क्रिया को भी अभिव्यक्त करती है।

उपरोक्त भ्रान्ति का निवारण इसलिए ज़रूरी था कि हम इस बात को जान लें कि सवाल अतीत में मौजूद मानवीय प्यार या मूल्य के किसी प्रतिमान की पुनर्प्राप्ति का नहीं है। सवाल मनुष्य के प्राकृतिक जगत से क्रमशः दूर जाते हुए, ज्यादा से ज्यादा मनुष्य होते जाने के उस गुण को फिर से हासिल करने का है जिसे वर्ग-समाज के विकास के दौरान, व्यक्तित्व के विघटन के साथ खोने की प्रक्रिया पूँजीवाद के वर्तमान वार्धक्य-काल तक अपने चरम तक जा पहुँची है। मानवीय प्रेम के उन्नत आदर्श की अवधारणा पूँजीवाद (वर्ग-समाज की अन्तिम मंजिल) के शैशव-काल में ही जन्म ले सकती थी। जीवन में हर चीज़

अपने प्रतिकूल पहलू के साथ ही अस्तित्व में आती है। पूँजीवादी समाज में व्यक्तित्व और मानवीय सारतत्व के चरम विघटन के साथ ही उनके निषेध के पहलू-उनके पुनर्संघटन के विचार और मार्ग को, अस्तित्व में आना था और फिर निश्चित ही इतिहास की गति उस दिशा में जायेगी जब यह दूसरा पहलू (सर्वहारा क्रान्ति के बाद और समाजवादी संक्रमण की दीर्घावधि के दौरान) प्रधान पहलू बन जायेगा, और वर्ग-विहीन समाज में निजी सम्पत्ति-सम्बन्धों के आधार और उससे उत्पन्न अधिरचना के पूर्ण विलोपन के बाद ही मनुष्य और सच्चे मानवीय प्यार के आदर्श सम्पूर्ण अर्थों में वस्तुगत यथार्थ बन सकेंगे।

एक और भ्रान्ति का निवारण यहाँ ज़रूरी है। ऐसा नहीं है कि पूँजीवादी सामाजिक श्रम-विभाजन के अन्तर्गत केवल मज़दूर ही मनुष्यता से, समाज से और मानवीय मूल्यों-भावनाओं से अलगाव का शिकार है। चूँकि श्रम-प्रक्रिया समाज का बुनियाद होती है, इसलिए मज़दूर का अलगाव सबसे बुनियादी अलगाव होता है। लेकिन समाज के अन्य वर्ग भी अलगाव और आत्म-अलगाव के समान रूप से शिकार होते हैं। शारीरिक श्रम करने वाले मज़दूर के अतिरिक्त मानसिक श्रम करने वाले और पूँजीवादी उत्पादन-तंत्र के प्रबन्धन-संचालन के दफ़्तरों कामों और पूरक सेवा-क्षेत्र से जुड़े मध्यवर्ग के लोग भी अपने कार्यकलापों के परिणाम से अपरिचित और विच्छिन्न होते हैं, वे उत्पादन-प्रक्रिया से विच्छिन्न होते हैं और सबसे नैसर्गिक मानवीय गुण-श्रम से विच्छिन्न होते हैं। इस नाते वे और अधिक मनोरोगी स्तर पर आत्म-अलगाव के शिकार होते हैं। जबतक मानसिक श्रम की श्रेष्ठता सहित सभी बुर्जुआ अधिकार और उनपर आधारित अन्तर्वैयक्तिक असमानताएँ बनी रहेंगी, तबतक यह स्थिति बनी रहेगी। पूँजीपति भी सामाजिक उत्पादन की बुनियादी कार्यवाही से पूर्णतः विच्छिन्न केवल अधिशेष निचोड़ने के लक्ष्य के लिए जीता है। पूँजी कोई चीज़ नहीं होती बल्कि वह समाज की सुनिश्चित ऐतिहासिक संरचना में निहित सुनिश्चित सामाजिक उत्पादन-सम्बन्ध होती है जो एक चीज़ के रूप में अभिव्यक्त होती है और उस चीज़ को विशिष्ट सामाजिक चरित्र देती है (विस्तृत विवेचना के लिए देखें, पूँजी, खण्ड-3, अध्याय-48)। पूँजीपति जिसका एकमात्र लक्ष्य पूँजी-संचय होता है, वह मनुष्य रह ही नहीं जाता। उसके लिए उत्पादन का लक्ष्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं बल्कि मुनाफ़ा होता है। उसके सभी सपने और सुख की सभी अवधारणाएँ मुनाफ़ा के इर्द-गिर्द निर्मित होती है। वह स्वयं पूँजी का व्यक्ति-रूप ('कैपिटल परसॉनिफ़ायड')

होता है। पत्नी भी उसके लिए अपने पूँजी-साम्राज्य का उत्तराधिकारी पैदा करने वाले उत्पादन के साधन से अधिक कुछ नहीं होती और उसे वह प्यार भी उसी रूप में करता है। पूँजी खुद जीन-लगाम कसकर पूँजीपति पर सवार उसे दिन-रात दौड़ाती रहती है। वह स्वयं अपनी आत्म अलगावग्रस्त चेतना से जिसे प्यार, आनन्द या जीवनोपभोग समझता है, वह वास्तव में एक विकृत और मिथ्या चेतना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। मार्क्स ने इस बात पर बल दिया कि बुर्जुआ समाज के सभी वर्गों के लोगों में व्याप्त अलगाव के सभी रूपों का आधार श्रम का अलगाव है। इसी के चलते वास्तविक, सामाजिक अन्तरविरोध विकृत और मिथ्या चेतना के रूप में परावर्तित, अभिव्यक्त और प्रतिफलित होते हैं।

अलगाव-विषयक इस पूरी चर्चा का उद्देश्य इस बात को स्पष्ट करना है कि बुर्जुआ समाज में सच्चे अर्थों में प्रेम की स्वतंत्रता सम्भव ही नहीं है। सामाजिक श्रम-विभाजन न केवल प्रेम, विवाह-सम्बन्ध और परिवार में स्त्री को बराबरी का दर्जा नहीं देता बल्कि मानवीय प्यार के आधुनिक मनुष्य के समक्ष उपस्थित आदर्श को जीवन का यथार्थ बनने की भी इज़ाज़त नहीं देता क्योंकि बुर्जुआ नागरिक (स्त्री-पुरुष) आत्म-अलगाव और भावना, सम्बन्ध आदि हर चीज़ को वस्तु के रूप में देखने की मानसिकता (रीइफ्रिकेशन) से ग्रस्त होने के कारण प्यार करने में अक्षम है, वे आत्मनिर्वासित आत्माओं वाले लोग हैं। ज़ाहिर है कि बुर्जुआ श्रम-विभाजन की समाप्ति ही इस स्थिति को बदल सकती है। अतः किसी भी सूरत में, भारत जैसे देशों में आज भी मौजूद मध्ययुगीन बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह की बात करते हुए बुर्जुआ प्रेम का आदर्शीकरण नहीं करना होगा, क्योंकि इसकी विद्रूपताएँ भी भारतीय जीवन का समकालीन यथार्थ बन चुकी हैं, (पश्चिम में तो पहले ही ऐसा हो चुका था)। हमें बुर्जुआ जनवाद के सीमान्तों का अतिक्रमण करना होगा और समाजवादी परियोजना के आत्मिक-सांस्कृतिक पक्षों पर सोचना होगा।

पूँजीवादी उत्पादन के क्षेत्र में श्रम-विभाजन जिस प्रकार समाज को शोषक-उत्पीड़क और शोषित-उत्पीड़ित के दो परस्पर-विरोधी पक्षों में बाँट देता है, उसी प्रकार यह परिवार के भीतर मानवीय पुनरुत्पादन के दायरे में भी स्त्री और पुरुष को क्रमशः गुलाम और मालिक का दर्जा दे देता है और इसी बुनियाद से ऐतिहासिक विकासक्रम में विकसित हुए प्रेम के दायरे में भी पुरुष को कृपाशील दाता और स्त्री को विवश और कृतज्ञ प्राप्तकर्ता बना देता

है। स्त्री को सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा के लिए किसी पुरुष को प्यार करने के मिथ्याभास में जीते हुए अन्ततः शरीर-समर्पण करना ही होता है। और पुरुष ऐसा अनुग्रह कई स्त्रियों पर करने के लिए स्वतंत्र होता है। वह ऐसा करने वाली स्त्री को “प्यार” करने की कृपा करता है और इस मायने में आदिम ‘ईरोस’ और व्यभिचार की मानसिकता में जीते हुए स्त्री को एक शरीर या सेक्स के मूर्त रूप से अधिक कुछ नहीं समझता। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि एक बुर्जुआ नागरिक को सबसे अधिक खतरनाक स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व लगता है, पर विडम्बना यह है कि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली की स्वतंत्र आन्तरिक गति से स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र अस्मिता का पैदा होना भी अपरिहार्य है। जो निकृष्टतम कोटि की उजरती गुलाम हैं उनमें यह स्वतंत्रता (आर्थिक स्वनिर्भरता के चलते) बुर्जुआ और मध्यवर्गीय स्त्रियों से (उनकी स्वतंत्र चेतना तो वस्तुतः एक विकृत या मिथ्याभासी चेतना है) कई गुना अधिक होती है और सर्वहारा पुरुष भी उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकारने के लिए तैयार होते हैं। जीवन-साथी चुनने-त्यागने या पारिवारिक निर्णयों में भागीदारी के मामले में एक हद तक की वास्तविक आज़ादी यदि दीखती भी है तो सर्वहारा स्त्रियों में ही दीखती है। यानी बुर्जुआ समाज ने कथनी में प्यार करने के अधिकार को पुरुषों के साथ ही स्त्रियों का भी अधिकार माना, पर यह अधिकार एक सीमित हद तक यदि लागू भी हुआ तो उत्पीड़ित वर्ग के बीच ही, जबकि अन्य अधिकार शासक वर्ग तक सीमित बने रहे और उत्पीड़ित वर्ग से प्रत्यक्ष-परोक्ष ढंग से छीने जाते रहे। यह भी इतिहास का एक व्यंग्य ही है। कुछ निश्चित आर्थिक प्रभावों के कारण शोषक वर्गों में वास्तविक स्वेच्छा से जीवन-साथी के चुनाव या पारिवारिक निर्णयों में स्त्रियों की भागीदारी की मिसालें कम मिलती हैं, जबकि मेहनतकशों में स्थिति इसके विपरीत होती है (एंगेल्स: ‘परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति’, पूर्वोद्धृत, पृ- 96)। भारत में भी उभरता हुआ और संख्यात्मक रूप से बढ़ता हुआ सर्वहारा वर्ग जैसे-जैसे किसानों की ज़मीन और संस्कारों से मुक्त होता जा रहा है और जैसे-जैसे स्त्रियों की भारी आबादी उजरती मज़दूरों की कतारों में शामिल होती जा रही हैं, वैसे-वैसे यह स्थिति ज्यादा से ज्यादा स्पष्ट होती जा रही है।

श्रम विभाजन से स्त्री की पारिवारिक गुलामी को जोड़ते हुए मार्क्स लिखते हैं: “श्रम-विभाजन, जिसमें ये सभी अन्तरविरोध अन्तर्निहित होते हैं और जो बदले में परिवार में श्रम के प्राकृतिक विभाजन पर तथा परस्पर विरोधी

अलग-अलग परिवारों में समाज के पृथक्करण पर आधारित होता है, उसके साथ-साथ श्रम और उसके उत्पाद का और इसलिए सम्पत्ति का वितरण, और जाहिरा तौर पर परिमाणात्मक एवं गुणात्मक, दोनों ही रूपों में असमान वितरण, अस्तित्व में आता है: यही वह नाभिक है जिसका पहला रूप परिवार में मौजूद होता है, जहाँ पत्नी और बच्चे पति के गुलाम होते हैं। परिवार में यह प्रच्छन्न, हालाँकि फिर भी अत्यन्त भोड़ी गुलामी ही पहली सम्पत्ति है...” (मार्क्स: ‘जर्मन आइडियोलॉजी’, पूर्वोद्धृत, पृ- 44)। आगे चलकर, निजी सम्पत्ति का अग्रवर्ती विकास ही पारिवारिक जीवन के रूपों के विकास को अनुकूलित करती है। परिवार राज्यसत्ता और नागरिक समाज का आधार होता है, पर निजी सम्पत्ति और श्रम-विभाजन इसे सामुदायिक चौहद्दी से बाहर (एक पृथक् घरेलू अर्थव्यवस्था के रूप में) एक निजी चीज़ बना देते हैं। परिवार ही वह व्यावहारिक बुनियाद है जिसपर बुर्जुआ वर्ग का आधिपत्य विकसित हुआ। (बुर्जुआ) परिवार की संस्था निहायत व्यावहारिक मामलों पर— आर्थिक मसलों पर टिकी होती है। बुर्जुआ समाज में परिवार की स्वतंत्र मान्यता या स्त्री-पुरुष की पारस्परिक चाहत नहीं बल्कि आम तौर पर बोरियत और वित्तीय हित ही लोगों को विवाह के लिए प्रेरित करते हैं। इसलिए, व्यवहारतः परिवार संस्था के सारहीन और विघटित हो जाने के बावजूद, औपचारिक रूप से यह बनी रहती है क्योंकि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली और नागरिक समाज के लिए इसका बना रहना ज़रूरी है। उन्नीसवीं शताब्दी में ही फ्रांस और इंग्लैण्ड के समाजवादियों और जर्मन दार्शनिकों ने इस सच्चाई को रेखांकित किया था और आलोचनात्मक यथार्थवाद के पुरोधाओं ने अपने उपन्यासों में पारिवारिक जीवन के तनावों-त्नासदियों और विघटन की आन्तरिक गति को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया था। इसके चन्द उदाहरणों के तौर पर तोल्स्टोय की ‘अन्ना कारेनिना’, फ्रीडिंग की ‘टॉम जोन्स’, जार्ज इलियट की ‘मिडिल मार्च’, गाल्सवर्दी की ‘द फ़ोरसाइट सागा’, हचिंसन की ‘दिस फ्रीडम’, स्टर्न की ‘द मैट्रियार्क’ और पर्लबक की ‘ड्रेगन सीड’ जैसी साहित्यिक कृतियों का नाम लिया जा सकता है। मार्क्स और एंगेल्स ने इसी आलोचना को एक ऐतिहासिक वैज्ञानिक आधार पर आगे विकसित किया। परिवार के विघटन को उन्होंने दो रूपों में देखा: पहला, वह वास्तविक विघटन जो दरअसल हो रहा है क्योंकि स्वयं बुर्जुआ वर्ग इसका कर्त्ता है, और दूसरा वह आवश्यक या वांछनीय विघटन, जो इस स्थिति की सचेतन स्वीकृति और सर्वहारा क्रान्ति द्वारा शुरू

की जाने वाली वि-अलगाव (डी-एलियनेशन) की प्रक्रिया द्वारा परिवार के बुर्जुआ स्वरूप के उन्मूलन की स्वीकृति पर आधारित है। सिद्धान्त और व्यवहार में परिवार यदि अभी भी मौजूद है तो इसलिए कि बुर्जुआ आधिपत्य इसी आधार पर टिका हुआ है। अपने अन्तर्य से ही पाखण्डी, बुर्जुआ मनुष्य इस संस्था की शर्तों का पालन नहीं करता, लेकिन फिर भी, आम तौर पर, इसे बनाये रखता है। व्यक्तियों के स्तर पर, सिद्धान्त और व्यवहार में, परिवार का निषेध किया जाता है, लेकिन समाज के स्तर पर, सिद्धान्त और व्यवहार में, इसे बरकरार रखा जाता है। अलगावग्रस्त अस्तित्व की नीरसता और खालीपन, आर्थिक हित, विवाह और परिवार की तमाम सैद्धान्तिक आलोचनाओं और उनके व्यावहारिक टूटन के बावजूद पूँजीवादी उद्योग, व्यापार एवं वित्तीय तंत्र के मालिक और प्रबन्ध-तंत्र के कर्ता-धर्ता, बुर्जुआ राज्य मशीनरी के कर्ता-धर्ता बुर्जुआ नागरिक, बुर्जुआ स्वतंत्र पेशेवर लोग और बुर्जुआ बुद्धिजीवी विवाह एवं परिवार के वास्तविक विघटन की दिशा में कतई आगे नहीं बढ़ते। बुर्जुआ अस्तित्व का आम पाखण्ड दो सेक्सों के बीच सम्बन्ध का एक काल्पनिक पवित्र संसार रचता है, जो विमानवीकृत 'रीइफ्रिकेशन' के रूप में कायम अपनी वास्तविकता में वस्तुतः एक कुरूप और गन्दी चीज़ होती है। और वही पाखण्ड, जीवन की कुरूप आनुभविक सच्चाई पर निर्भर होने के नाते, विवाह और परिवार की वचनबद्धता से पलायन और आपातकालीन निकास-द्वार के रूप में बदचलनी, नाजायज़ रिश्तों और वेश्यागमन का इस्तेमाल करता है। बुर्जुआ समाज में रहते हुए शासकवर्ग के वर्चस्वशील मूल्यों और संस्कृति के शिकार मेहनतकश भी होते हैं, जीवन का खालीपन उन्हें भी विमानवीकृत और अलगावग्रस्त करके व्यभिचार-अनाचार की ओर धकेलता है, लेकिन निजी सम्पत्ति से जुड़ा कोई आर्थिक हित नहीं होने के कारण रिश्ते बनाने, चलाने और तोड़ने के मामले में उनके जीवन में स्वेच्छा का तत्व अधिक काम करता है। दूसरे, उनके वहाँ व्याप्त व्यभिचार और जीवन की कुरूपता पर पाखण्ड का कोई पर्दा नहीं होता। इस मायने में सापेक्षतः उनका जीवन नैतिक अधिक होता है। हाँ, भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी समाजों में, मेहनतकश जीवन में जाति-धर्म आदि की प्राक्पूँजीवादी जकड़बन्दी की घुटनभरी सड़ांध ज़रूर अभी भी मौजूद है, जिस बुराई को पूँजीवाद अपना भी रहा है तथा बुर्जुआ बुराई द्वारा विस्थापित भी कर रहा है।

बुर्जुआ नागरिक जब स्त्री को भोग्या, दासी और आनन्दोपभोग की वस्तु

मानता है, तो मार्क्स के अनुसार वह अपने स्वयं के ही सीमाहीन पतन, अलगाव और अलगावजन्य विमानवीकरण को अभिव्यक्त करता है। विवाहेतर यौन-सम्बन्ध, विशेषकर हर नये-पुराने रूप के वेश्यागमन में मनुष्य की सच्ची सामाजिक प्रकृति का यह अलगाव सर्वाधिक सघन एवं प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति पाता है क्योंकि वेश्यावृत्ति एक ऐसे व्यापारिक रिश्ते पर आधारित होती है जो वेश्या स्त्री से अधिक, उसके पास जाने वाले पुरुष को अलगावग्रस्त और आत्म-अलगाव का शिकार बनाती है, उसे एक ऐसी अन्तरात्मा बना देती है जो मालों के द्वीप पर आत्मनिर्वासित है जहाँ खरीद-फ़रोख़्त के अतिरिक्त और कोई मानवीय भावनात्मक क्रिया-व्यापार होता ही नहीं। अपने इर्द-गिर्द के सभ्य समाज में चल रही पार्टियों, इण्टरनेट और ब्लू फ़िल्मों द्वारा परोसी जा रही यौन विकृतियों, बुर्जुआ कारोबारों के ऑफ़िसों, क्लबों-रिसार्टों, मसाज सेण्टरों और कालगर्ल्स की दुनिया पर निगाह डालिये, आपको इस बात की सच्चाई का सहज अहसास हो जायेगा। बुर्जुआ समाज का यह सूत्र-वाक्य है कि सब कुछ खरीद पाने की शक्ति रखने वाली मुद्रा मानवीय भावनाओं, रिश्तों और प्यार को भी खरीद सकती है। जैसा कि मार्क्स बताते हैं, मुद्रा स्वयं एक सार्वभौमिक वेश्या है और कौमों और राष्ट्रों की सर्वसामान्य कुटनी है जो मानवीय आवश्यकता और उसकी पूर्ति के साधनों के बीच, मनुष्य और उसके जीवन के बीच, एक मनुष्य और अन्य मनुष्यों के बीच सौदेबाज़ी कराने और रिश्ते पटाने का काम करती है। मुद्रा प्राणियों और सामुदायिक मानव जाति के सभी नैसर्गिक गुणों को गड़ुमड़ु कर देती है, उन्हें उलट देती है और उनके वैपरीत्यों के साथ उनका विनिमय कर देती है। “यह अन्तरविरोधों को आपस में आलिंगनबद्ध करा देती है।” आगे मार्क्स लिखते हैं: “मनुष्य को मनुष्य और संसार के साथ उसके सम्बन्धों को आप मानवीय मान लीजिए: तब फिर आप प्रेम का केवल प्रेम के साथ, विश्वास का विश्वास के साथ, आदि-आदि... विनिमय कर सकते हैं। यदि आप कला का आस्वादन करना चाहते हैं तो आपको कलात्मक दृष्टि से परिष्कृत व्यक्ति होना चाहिए, यदि आप दूसरे लोगों पर प्रभाव डालना चाहते हैं तो आपको दूसरे लोगों पर स्फूर्तिप्रद और उत्साहवद्भर्क प्रभाव डालने वाला व्यक्ति होना चाहिए। मनुष्य और प्रकृति के साथ, आपके प्रत्येक सम्बन्ध को, आपकी कामना की वस्तु के अनुरूप, आपके वास्तविक वैयक्तिक जीवन की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यदि आप बदले में प्रेम जगाये बिना प्रेम करते हैं-यानी अगर प्रेम के रूप में आपका

प्रेम जवाबी प्रेम नहीं पैदा करता; यदि प्रेम करने वाले एक व्यक्ति के रूप में आप स्वयं की एक जीवन्त अभिव्यक्ति के रूप में अपने को प्रेम पाने वाला व्यक्ति नहीं बना पाते, तो आपका प्यार निश्शक्त है-एक दुर्भाग्य है” (मार्क्स: दि इकोनॉमिक एण्ड फ़िलॉसोफ़िक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1844, पूर्वोद्धृत, पृ-169)।

स्त्री-पुरुष के बीच अन्योन्य क्रिया के रूप में प्यार और पूरी बराबरी और आज़ादी पर आधारित भावनात्मक-दैहिक सम्बन्ध को सम्भव बनाने के लिए उनके सम्बन्ध को अलगाव-मुक्त (डीएलियनेट) करना अपरिहार्य है तथा विवाह के सभी बुर्जुआ रूपों को-उनकी पूर्वशर्तों, परिस्थितियों और परिणतियों समेत-अन्तर्वस्तु एवं रूप की दृष्टि से बदलना अपरिहार्य है। चूँकि परिवार भी एक विशिष्ट उत्पादन-प्रणाली है और इसके आम नियमों से स्वतंत्र नहीं है, इसलिए निजी सम्पत्ति और पृथक्कृत आर्थिक जीवन के उन्मूलन को परिवार के उन्मूलन से अलग करके नहीं देखा जा सकता (मार्क्स-एंगेल्स: ‘जर्मन आइडियोलॉजी’, पूर्वोद्धृत, पृ- 40, पृष्ठ के नीचे दी गयी टिप्पणी से)। मार्क्स के अनुसार निजी सम्पत्ति का सकारात्मक, प्रभावी उन्मूलन ही समग्रता में सच्चे मानव जीवन की प्राप्ति और सभी अलगावों का आमूलगामी उन्मूलन है। इस प्रकार, स्त्री-पुरुष अपने जीवन और सम्बन्धों में अपने मानवीय अस्तित्व को साकार कर सकेंगे और उनका जीवन और बुर्जुआ परिवार का स्थान लेने वाली पारिवारिक इकाई अनिवार्यतः वैयक्तिक और सामुदायिक-एक ही साथ दोनों होगी। विवाह के उन्मूलन का अर्थ किसी भी रूप में स्त्री का सामुदायिक दर्जा नहीं होगा, मानो कि वह कोई साझा सम्पत्ति हो, जैसा कि “भोड़े और विचारहीन कम्युनिज़्म” की प्रत्येक धारा का मानना था (मार्क्स: ‘दि इकोनॉमिक एण्ड फ़िलॉसोफ़िक मैनुस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1844, पृ- 133)। सवाल यहाँ निजी सम्पत्ति के उन्मूलन का है, न कि उसके सामान्यीकरण और विस्तार का है। मार्क्स यहाँ पूँजीवाद के सार्वत्रीकरण के लिए पूर्ववर्ती भोड़े कम्युनिज़्म की आलोचना करते हैं क्योंकि यह मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रतिकूल है और समतलीकरण की किसी प्रक्रिया द्वारा मनुष्य की स्थिति का निर्धारण मनुष्य की विशिष्ट प्रकृति से कदापि मेल नहीं खाता। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में मानवीय अलगाव से मुक्ति मनुष्य के “मानवीय, यानी सामाजिक अस्तित्व” को बहाल करना है (मार्क्स: वही)।

सामाजिक संरचनागत उपादानों को अलग करके देखें, तो मार्क्स का यह

कहना सही है कि “सेक्सुअल क्रियाकलाप शरीर का सर्वोच्च कार्य है” (मार्क्स: ‘हेगेल्स फ़िलॉसोफी ऑफ़ राइट’, पृ- 40, कैम्ब्रिज, 1970)। लेकिन सेक्सुअल क्रियाकलाप को मार्क्स एक पार्श्विक क्रिया या सम्भोग की क्रिया के रूप में नहीं देखते। वास्तविक व्यक्तिगत यौन-प्रेम में मार्क्स दैहिक आकर्षण और तज्जन्य सौन्दर्यात्मक-आत्मिक मनोभावों का संश्लिष्ट अमूर्तन देखते हैं, जहाँ रचियों और विचारों की एकता के बिना, मात्र साहचर्य से यौनाकर्षण नहीं उत्पन्न होता। मार्क्स मानवीय सेक्सुअल क्रियाकलाप को विरूपित करने वाली और उसका दम घोट देने वाली निजी सम्पत्ति की सत्ता और तज्जन्य अलगाव को अनावृत्त करते हैं। निजी सम्पत्ति के सामान्यीकरण के नियम के लिए हर विशिष्ट मानवीय परिघटना को एक नज़ीर बनाना पूँजीवाद का ही सार्वव्यापीकरण है, और इसके बजाय मार्क्स एक ऐसे समाज की बात कर रहे हैं जहाँ हर ठोस मानवीय परिघटना या सम्बन्ध सार्वजनिक मानवीय प्राकृतिक परिवेश को प्रतिबिम्बित करता हो। वे लिखते हैं: “स्त्री को सामुदायिक काम-वासना की तृप्ति का माल और दासी समझने के दृष्टिकोण में वह असीमित अधःपतन अभिव्यक्त होता है जिसमें पुरुष सिर्फ़ अपने लिए अस्तित्वमान है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के रहस्य की असंदिग्ध, निर्णायक, सुस्पष्ट और अप्रच्छन्न अभिव्यक्ति पुरुष के स्त्री के साथ सम्बन्ध में और उस ढंग में सामने आती है जिसमें प्रत्यक्ष तथा प्राकृतिक जातिमूल-सम्बन्धी रिश्ते (स्पेसीज़ रिलेशनशिप) की कल्पना की जाती है। व्यक्ति का व्यक्ति के साथ प्रत्यक्ष, प्राकृतिक और आवश्यक सम्बन्ध पुरुष का स्त्री से सम्बन्ध है। इस नैसर्गिक जाति-मूल सम्बन्धी रिश्ते के अन्तर्गत मनुष्य का प्रकृति के साथ सम्बन्ध सीधे उनका मनुष्य के साथ सम्बन्ध है, ठीक वैसे ही जैसे उसका मनुष्य के साथ सम्बन्ध सीधे प्रकृति के साथ उसका सम्बन्ध है-जो उसका नैसर्गिक लक्ष्य (नेचुरल डेस्टिनेशन) है। अतः इस रिश्ते में, जिस हद तक मानवीय सारतत्व मनुष्य के लिए प्रकृति बन गया है, उस हद तक ऐन्द्रिक रूप में (सेक्सुअली) अभिव्यक्त, प्रेक्षणीय तथ्य में परिणत होता है। इसलिए इस रिश्ते से मनुष्य के विकास के समग्र स्तर को जाना जा सकता है। इस रिश्ते के चरित्र से यह पता चलता है कि एक जाति-मूल प्राणी (स्पेसीज़-बीइंग) के रूप में, मनुष्य के रूप में मनुष्य स्वयं किस हद तक बन गया है और किस हद तक स्वयं को समझने लगा है, पुरुष का स्त्री के साथ सम्बन्ध मानव-प्राणी का मानव प्राणी के साथ सबसे प्राकृतिक सम्बन्ध है अतः यह इस बात को बतलाता है कि मनुष्य का स्वाभाविक आचरण किस हद तक

मानवीय बन गया है, अथवा उसके भीतर का मानवीय सारतत्व किस हद तक प्राकृतिक सारतत्व बन गया है-किस हद तक उसकी मानवीय प्रकृति उसके लिए प्राकृतिक बन गयी है। यह रिश्ता यह भी प्रकट करता है कि किस हद तक मनुष्य की आवश्यकता एक मानवीय आवश्यकता बन गयी है, अतः किस हद तक व्यक्ति के नाते दूसरा व्यक्ति उसके लिए एक आवश्यकता बन गया है-किस हद तक अपने वैयक्तिक अस्तित्व के साथ-साथ वह एक सामाजिक प्राणी बन गया है“ (मार्क्स: मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ़ 1844, पूवोद्धृत, पृ- 134)।

मार्क्स की यह तार्किक धारणा पूँजीवादी समाज की आन्तरिक गतिकी के अध्ययन का ही परिणाम थी कि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली और अलगाव की अनिवार्य समाप्ति के बाद, विवाह और परिवार के बुर्जुआ स्वरूप का भी उन्मूलन हो जायेगा, स्त्री-पुरुष स्वतंत्रता और समानता के साथ जोड़े बनायेंगे, स्त्रियाँ तब भोग एवं उत्पादन-पुनरुत्पादन का साधन नहीं होंगी, वे पुरुषों पर निर्भर नहीं होंगी, दम्पति नागरिक एवं आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होंगे, बच्चे अपने माता-पिता पर निर्भर नहीं होंगे और चूल्हे-चौकठ की दासता से मुक्त स्त्रियाँ सभी उत्पादक एवं सामाजिक कार्यवाइयों में बराबर की भागीदार होंगी। जैसा कि हम एंगेल्स को पहले ही उद्धृत कर चुके हैं, ये जीवन स्थितियाँ स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों को नहीं बल्कि एकान्तिक, एकनिष्ठ यौन-प्रेम और दाम्पत्य को जन्म देंगी क्योंकि यौन-प्रेम अपनी प्रकृति से ही एकान्तिक होता है। न केवल भोंड़े कम्युनिज़्म के प्रवर्तकों ने और अराजकतावादियों ने यौन सम्बन्धों की स्वच्छन्दता की बात की, बल्कि बुर्जुआ वर्ग मार्क्स के ज़माने से लेकर आजतक कम्युनिस्टों द्वारा “यौन-मुक्ति” और स्त्रियों के समाजीकरण का शोर मचाता रहा है (तथा बुर्जुआ नारीवादी भी स्त्री-दासता का कारण ऐतिहासिक-सामाजिक स्थितियों में नहीं बल्कि यौन भेद में देखते हुए “यौन-मुक्ति” के विविधरूपा विचार आज भी प्रस्तुत करती रहती हैं)। मार्क्स ने 1848 में इन कूपमण्डूकता और कुत्सापूर्ण अटकलों-तोहमतों का जो उत्तर दिया था, उसे इस पर और अधिक स्पष्टता के लिए हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं:

“बुर्जुआ अपनी पत्नी को एक उत्पादनोपकरण के सिवा और कुछ नहीं समझता। उसने सुन रखा है कि उत्पादन उपकरणों का सामूहिक रूप से उपयोग होगा और, स्वभावतः, वह इसके अलावा और कोई निष्कर्ष नहीं निकाल पाता कि सभी चीज़ों की तरह औरतें भी सभी के साझे की हो जायेंगी।

“वह यह सोच भी नहीं सकता कि दरअसल मक़सद यह है कि आम उत्पादन उपकरण होने की स्थिति का ही ख़ात्मा कर दिया जाये।

“बाकी तो बात यह है कि हमारे बुर्जुआ के औरतों के समाजीकरण के खिलाफ़, जो उसके दावे के मुताबिक कम्युनिस्टों द्वारा खुल्लमखुल्ला और आधिकारिक रूप से स्थापित किया जायेगा, सदाचारी आक्रोश से अधिक हास्यास्पद दूसरी और कोई चीज़ नहीं है। कम्युनिस्टों को स्त्रियों का समाजीकरण प्रचलित करने की कोई ज़रूरत नहीं है; उनकी यह स्थिति तो लगभग अनादि काल से चली आ रही है।

“हमारे बुर्जुआ इसी से सन्तोष न करके कि वे अपने मज़दूरों की बहू-बेटियों का अपनी मरज़ी के मुताबिक इस्तेमाल कर सकते हैं, सामान्य वेश्याओं की तो बात ही क्या, एक-दूसरे की बीवियों पर हाथ साफ़ करने में विशेष आनन्द प्राप्त करते हैं।

“बुर्जुआ विवाह वास्तव में साझे की पत्नियों की ही व्यवस्था है, इसलिए कम्युनिस्टों के खिलाफ़ अधिक से अधिक यही आरोप लगाया जा सकता है कि वे स्त्रियों के पाखण्ड पूर्वक छिपाये गये समाजीकरण की जगह खुले तौर पर क्रानूनी समाजीकरण लाना चाहते हैं। बाकी तो यह बात अपने आप में साफ़ है कि वर्तमान उत्पादन-पद्धति के उन्मूलन के साथ-साथ इस पद्धति से उत्पन्न स्त्रियों के समाजीकरण का, अर्थात् खुली और ख़ानगी, दोनों ही प्रकार की वेश्यावृत्ति का अनिवार्यतः उन्मूलन हो जायेगा।” (मार्क्स-एंगेल्स ‘कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र’, पृ- 52, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ, 1999)

एक वर्ग-विहीन समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध से कौन-सी विकृतियाँ समाप्त हो जायेंगी, इसके बारे में आज की ज़मीन पर खड़ा होकर तो बस इतना ही तर्कसंगत अनुमान लगाया जा सकता है। प्रश्न की और अधिक स्पष्ट समझ के लिए कम्युनिस्ट भविष्य के बारे में हम एक बार फ़िर एंगेल्स को उद्धृत करना चाहेंगे:

“...एकनिष्ठ विवाह से वे सारी विशेषताएँ निश्चित रूप से मिट जायेंगी जो स्वामित्व-सम्बन्धों से उसके उत्पन्न होने के कारण पैदा हो गयी हैं। ये विशेषताएँ हैं: एक तो पुरुष का आधिपत्य, और दूसरे विवाह सम्बन्ध का अविच्छेद्य रूप। दाम्पत्य जीवन में पुरुष का अधिपत्य केवल उसके आर्थिक प्रभुत्व का एक

परिणाम है और उस प्रभुत्व के मिटने पर वह अपने आप खतम हो जायेगा। विवाह-सम्बन्ध का अविच्छेद्य रूप कुछ हद तक उन आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है जिनमें एकनिष्ठ विवाह की उत्पत्ति हुई थी और कुछ हद तक वह उस समय से चली आती हुई एक परम्परा है जबकि इन आर्थिक परिस्थितियों तथा एकनिष्ठ विवाह के सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं समझा जाता था और धर्म ने उसे अतिरंजित कर दिया था। आज इस परम्परा में हज़ारों दरारें पड़ चुकी हैं। यदि प्रेम पर आधारित विवाह ही नैतिक होते हैं तो ज़ाहिर है कि केवल वे विवाह ही नैतिक माने जायेंगे जिनमें प्रेम कायम रहता है। व्यक्तिगत यौन-प्रेम के आवेग की अवधि प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होती है। विशेषकर पुरुषों में तो इस मामले में बहुत ही अन्तर होता है। और प्रेम के निश्चित रूप से नष्ट हो जाने पर या किसी और व्यक्ति से उत्कट प्रेम हो जाने पर पति-पत्नी का अलग हो जाना दोनों पक्ष के लिए और समाज के लिए भी हितकारक बन जाता है। अलबत्ता, लोग तलाक की कार्रवाइयों के व्यर्थ के झंझटों से बच जायेंगे।

“अतएव, पूँजीवादी उत्पादन के आसन्न विनाश के बाद यौन-सम्बन्धों का स्वरूप क्या होगा, उसके बारे में आज हम केवल नकारात्मक अनुमान कर सकते हैं-अभी हम केवल इतना कह सकते हैं कि क्या चीज़ें तब नहीं रहेंगी। परन्तु उसमें कौन सी नयी चीज़ें जुड़ जायेंगी? यह उस समय निश्चित होगा जब एक नयी पीढ़ी पनपेगी-ऐसे पुरुषों की पीढ़ी जिसे जीवन भर कभी किसी नारी की देह को पैसा देकर या सामाजिक शक्ति के किसी अन्य साधन के द्वारा खरीदने का मौक़ा नहीं मिलेगा, और ऐसी नारियों की पीढ़ी जिसे कभी सच्चे प्रेम के सिवा और किसी कारण से किसी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण करने के लिए विवश नहीं होना पड़ेगा, और न ही जिसे आर्थिक परिणामों के भय से अपने को अपने प्रेमी के सामने आत्मसमर्पण करने से कभी रोकना पड़ेगा। और जब एक बार ऐसे स्त्री-पुरुष इस दुनिया में जन्म ले लेंगे, तब वे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करेंगे कि आज हमारी राय में उन्हें क्या करना चाहिए। वे स्वयं तय करेंगे कि उन्हें क्या करना चाहिए और उसके अनुसार वे स्वयं ही प्रत्येक व्यक्ति के आचरण के बारे में जनमत का निर्माण करेंगे-और बस, मामला खतम हो जायेगा।” (फ्रे- एंगेल्स: ‘परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति’, मार्क्स-एंगेल्स: संकलित रचनाएँ, खण्ड-3, भाग-2, पूर्वोद्धृत, पृ- 97-98)